# संस्कृत-शोध-लेखमाला

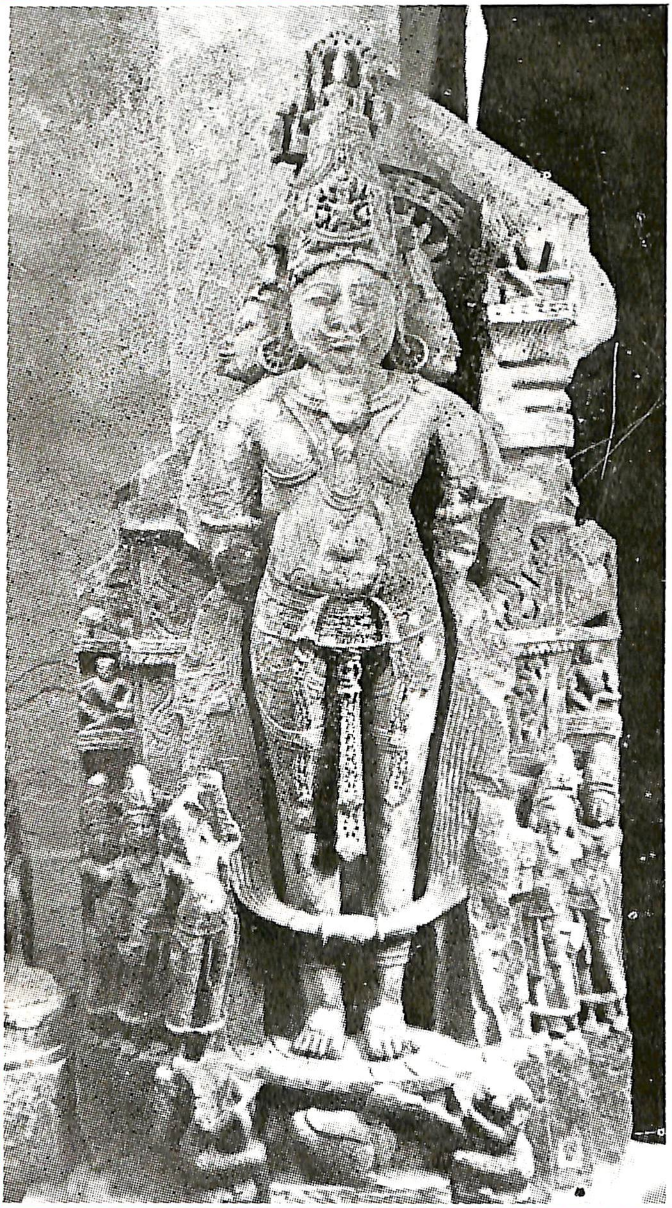

डॉ. मुहम्मद इसराइल खाँ

संस्कृत-शोध-लेखमाला

# संस्कृत-शोध-लेखमाला

लेखक

**डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ**

एम० ए०, पी-एच० डी०

रीडर

संस्कृत-विभाग

दक्षिण दिल्ली परिसर

दिल्ली विश्वविद्यालय

नई दिल्ली

(भारत)

**क्रीसेण्ट पब्लिशिङ्ग हाऊस**

एफ०/डी० ५६, नया कविनगर

गाजियाबाद

भारत

**संस्कृत-शोध-लेखमाला**

**डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ**

© डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ

भारत में प्रथम संस्करण १९८५

मूल्य रु० १२० मात्र

**प्रकाशक :**

श्रीमती जिलेबा बीवी

**क्रीसेण्ट पब्लिशिङ्ग हाऊस**

एफ०/डी०-५६, नया कविनगर,

गाज़ियाबाद, भारत

**मुद्रक :**

मीनार प्रिंटर्स

शाहदरा, दिल्ली-११००३२

**समर्पण**

श्री राजीव गाँधी
प्रधान मंत्री
(भारत सरकार)
को
समर्पित
जिन के लिए मेरी महती श्रद्धा
है
तथा
जिन के द्वारा मैं इन्दिरा जी
को आज भी जीवित समझता हूँ,
जो मेरी महती हितैषिणी थीं।

–०–

## प्रस्तावना

मैं अपने जीवन में सन् १९८५ को एक पावन वर्ष समझता हूँ, क्योंकि इस वर्ष एक साथ मेरे तीन शोध-ग्रंथों का विमोचन हो रहा है। वे ग्रंथ क्रमशः '**संस्कृत-नाट्य-सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष**', '**संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कतिपय झाँकियाँ**' तथा '**संस्कृत-शोध-लेखमाला**' हैं। सम्प्रति मैं **संस्कृत-शोध-लेखमाला**' के विषय में प्रस्तावना के माध्यम से कुछ शब्द कहना चाहता हूँ। वस्तुतः इन तीनों ग्रन्थों के प्रणयन में मेरी कई वर्षों की तपस्याएँ अन्तर्हित हैं। मैंने सन् १९६५ से शोध-लेख लिखना प्रारम्भ किया था। उन्हें निरन्तर लिखता रहता तथा शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराता रहा। प्रारम्भ से लेकर आज २१ वर्ष हो रहे हैं। इस इक्कीस वर्ष की अवधि में कुछ शोध-लेख ऐसे भी थे, जो लिखे तो गये थे, परन्तु कुछ न्यूनताओं अथवा अपूर्णताओं के कारण प्रकाशित नहीं हो सके थे। कुछ लेख लिखे जाते रहे तथा इन ग्रंथों के प्रकाशन के अन्त तक उनकी समाप्ति हो सकी तथा वे अब विषयानुसार तत्तत् ग्रंथों में न्यस्त हैं।

प्रकृत '**संस्कृत-शोध-लेखमाला**' में **१५** शोध-लेख हैं। परिशिष्ट में कुछ ऋग्वैदिक पाठ्य हैं, जो नाट्य के सम्वाद-तत्त्व से सम्बद्ध हैं। लेखों के नाम : (१) वेद-भाष्यपद्धति, (२) कारक-विचार, (३) श्रीगणेशजी : एक विहगावलोकन, (४) नैतिक शिक्षा की आधार-शिला संस्कृत, (५) काव्यस्वरूप-निरूपण, (६) भारतीया वैदिकी पूजा-पद्धति, (७) पौराणिक संस्कृति, (८) मेघदूत का शिल्प और संवेदन, (९) यजुर्वेद में सरस्वती का स्वरूप, (१०) कमल-पुष्प—कालिदास के परिप्रेक्ष में, (११) नाट्य के वैदिक स्रोत, (१२) अथर्ववेद में प्रकृति तथा मानव, (१३) भारतीय विवाह-पद्धतियाँ (१४) विष्णुधर्मोत्तर तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा और (१५) आधुनिक संस्कृत की प्रासंगिकता तथा प्रसार के व्यावहारिक उपाय हैं। परिशिष्ट में न्यस्त विषय का नाम 'नाट्य तत्त्व-सम्बन्धी ऋग्वैदिक सम्वाद-पाठ्य' है। इन शोध-लेखों के विषय में भी बताना उचित प्रतीत होता है कि ये सभी शोध-लेख हिन्दी के माध्यम से लिखे गये हैं। मैं ने अपने शोध-लेख हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत के माध्यम से लिखे हैं। इन सम्पूर्ण शोध-लेखों के विषयों का केन्द्र-बिन्दु संस्कृत है। प्रथम चरण में हिन्दी के शोध-लेखों का प्रकाशन उपर्युक्त तीन ग्रंथों के माध्यम से हुआ है। अंग्रेजी के शोध-लेखों के प्रकाशन की योजना चल रही है और आशा की जाती है कि निकट भविष्य में उन का प्रकाशन **'Some Gems of Sanskrit lore'** के अन्तर्गत होगा। इसी प्रकार संस्कृत में लिखित शोध-लेखों के प्रकाशन की योजना

विचाराधीन है । हमारे अध्यक्ष प्रोफेसर रसिक बिहारी जोशी जी का आदेश है कि मैं संस्कृत में लिखित पुस्तक का प्रकाशन करूँ । फलतः मैं इस दिशा में प्रयत्नशील हूँ ।

मैं प्रकृत पुस्तक में लिखित लेखों के विषय में कुछ बातें और कहना चाहूँगा । इस सङ्ग्रह में पाँच लेख वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध हैं । उनके नाम : (१) वेदभाष्य-पद्धति, (२) भारतीया वैदिकी पूजा-पद्धति, (३) यजुर्वेद में सरस्वती का स्वरूप, (४) नाट्य के वैदिक स्रोत तथा (५) अथर्ववेद में प्रकृति तथा मानव हैं । 'वेदभाष्य-पद्धति' के अन्तर्गत विभिन्न पद्धतियों की ओर सङ्केत किया गया है । उसी संदर्भ में निरुक्ति-पद्धति की ओर सङ्केत है, परन्तु वहाँ निरुक्त तथा उस में प्रदर्शित अन्य पद्धतियों को भी दृष्टिपथ में रखना चाहिए । यास्क ने किसी विवाद-ग्रस्त समस्या की व्याख्या करते समय स्थान-स्थान पर अपना मत तो दिया ही है, परन्तु उन्होंने अन्य मतों की ओर इति ऐतिहासिकाः, इति याज्ञिकाः, इति आख्यानवित्, इति नैदानाः इत्यादि कथनों से सङ्केत किया है । इन की प्रद्धतियों का अवलोकन नई दृष्टि की अपेक्षा रखता है । इन लेखों में कारक-विचार व्याकरण का विषय है । कारक तथा विभक्ति दोनों भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक हैं, इसमें कुछ मत-भेद हैं । मैं ने कारक की शक्ति को विभक्ति माना है तथा दोनों का अभेद प्रदर्शित किया है । विभाषा कृञि की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार स्वरों में अन्तर व्याकरण के नियमों से होता रहता है । इसी प्रकार 'मेघदूत का शिल्प तथा संवेदन' तथा 'कमल-पुष्प—कालिदास के परिप्रेक्ष में', ये दो विषय महाकवि कालिदास से सम्बद्ध हैं। 'मेघदूत का शिल्प तथा संवेदन' में नितान्त नई दृष्टि अपनाई गई है । प्रायः लोग मानते हैं कि कालिदास का मेघदूत एक श्रृङ्गार-प्रधान काव्य है । मैं ने इसे एक भक्ति-काव्य माना है तथा कालिदास को एक अत्यन्त शुद्ध भारतीय भक्त माना है, जो किसी दैवी अथवा अर्द्ध दैवी दम्पति में श्रृंगार की भावना को निहारना उचित नहीं समझते । निन्यान्वे प्रतिशत लोगों की सामान्य जनों के समान दृष्टि हो सकती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सौवाँ व्यक्ति भी वैसा ही हो । कमल-पुष्प के निहारने में भी नई दृष्टि अपनाई गई है । पौराणिक संस्कृति में भी नई दृष्टि के साथ विषयों पर विचार किया गया है । वस्तुतः पौराणिक संस्कृति पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है, परन्तु मैं ने इस विषय पर (१) धर्म-विषयक संस्कृति, (२) पौराणिक वंशानुचरित से संस्कृति का ज्ञान, (३) पुराणकालीन लोगों की मनोरञ्जन-प्रियता, (४) दण्ड-विधान, (५) दान-माहात्म्य, (६) पौराणिक वर्णव्यवस्था और (७) पौराणिक युग की भोजन-सामग्री, इन माप-दण्डों के आधार पर प्रकृत संस्कृति को संस्कृति तथा सभ्यता का अन्तर प्रदर्शित करते हुए विचार किया है ।

आज भारत में विवाह की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं । विवाह कभी-कभी शिशुओं के उत्पन्न न होने के पूर्व भी हो जाते हैं । कैसी विचित्र माया है । मैं ने इस पद्धति पर वैदिकी तथा वैदिकेतर पद्धतियों के माध्यम से विचार किया है । प्रयत्न

किया है कि वेदों के मूलपाठ को देखूं तथा विचार करूं। इस दिशा में प्रयत्न किया है तथा स्थान-स्थान पर मूल पाठ को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है। इस लेख को मनुस्मृति के संदर्भों से समाप्त किया है। इस पर महाभारतादि कालों को लेकर विस्तृत विवेचन किया जा सकता है। ब्रह्मा की प्रतिमा का निरूपण पौराणिक संदर्भ में किया गया है। पौराणिक काल में प्रतिमा-विज्ञान ने महती उन्नति की थी, क्योंकि इस काल में प्रायः सभी देवों के स्वरूप में अभूतपूर्व मूर्तिकरण पाया जाता है, जो मूर्ति-निर्माण-कला को महती सामग्री प्रदान करता है। प्रतिमा-विद्या के अन्तर्गत प्रतीक का महान् महत्त्व है, क्योंकि साधक तथा मूर्ति-निर्माता की आत्म-संतुष्टि के लिए मन में किसी गूढ विचार को बाह्य रूप प्रदान करना पड़ता है। मूर्ति अथवा प्रतिमा एतदर्थ अवसर प्रदान करती है। प्रतीक-विद्या के अन्तर्गत दार्शनिक विचार छिपा रहता है। ब्रह्मा की मूर्ति के विभिन्न वस्तुओं तथा अङ्गों के साथ इस विचार-धारा का सम्बन्ध है। फलतः प्रकृत संदर्भ में इन का संकेत मात्र किया गया है।

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछ लेखों की प्रमुख विशेषताओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। आशा करता हूँ कि वे इनके अध्ययन से लाभान्वित होंगे। उन से निवेदन है कि यदि वे कुछ सुझाव दे सकें, तो मैं उन का अत्यन्त अनुगृहीत हूँगा।

दिनाङ्क ७.८.१९८५

—मुहम्मद इसराइल खाँ

# आभार-प्रदर्शन

मैं ने इस पुस्तक के प्रकाशन में अनेक पुस्तकों तथा लेखों की सहायता ली है, अत एव मैं उनके लेखकों अथवा लेखिकाओं का अत्यन्त आभारी हूँ । सर्वप्रथम मैं यहाँ अपने को उनका ही कृतज्ञ समझता हूँ । इस पुस्तक के प्रकाशन पर उल्लसित तथा प्रफुल्लित होने वाले सहृदयों, मित्रों, सहकर्मियों आदि का आभार मानता हुआ शाश्वत् उनकी सत्कामना का प्रार्थी हूँ । मैं ने इस पुस्तक के प्रकाशन में अनेक पुस्तकालयों की सहायता ली है, अत एव वहाँ के पदाधिकारियों का ऋणी हूँ । अन्त में मैं अपने प्रकाश तथा मुद्रक का आभार स्वीकार करता हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को विद्वानों के सम्मुख लाने में अपना अद्वितीय सहयोग दिया है ।

**दिनाङ्क : ७.८.८५** **—मुहम्मद इसराइल खाँ**

# विषय-सूची


| पाठ्य-क्रम | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| समर्पण | ५ |
| प्रस्तावना | ७-६ |
| आभार-प्रदर्शन | ११ |

—१—

वेदभाष्यपद्धति १-७

१. निरुक्ति-पद्धति

२. प्राचीन वेदभाष्यकारों की पद्धति

३. पाश्चात्य-पद्धति

(अ) जर्मन विद्वानों की पद्धति

(ब) अंग्रेजों की पद्धति

(स) अन्य विद्वान्

४. दयानन्दीय पद्धति

५. श्रीअरविन्द की पद्धति

६. अन्य आधुनिक पद्धतियाँ

—२—

कारक-विचार ८-१२

१. कारक तथा विभक्ति

२. प्रातिपदिकार्थ-विषयक प्रश्न

३. विभाषा कृञि की व्याख्या

—३—

श्रीगणेश जी : एक विहगावलोन १३-१६

—४—

नैतिक शिक्षा की आधार-शिला संस्कृत १७-२०

—५—

काव्य-स्वरूप-निरूपण २१-२५

—६—

भारतीया वैदिकी पूजा-पद्धति २६-३०

—७—

पौराणिक संस्कृति ३१-४३

१. धर्म-विषयक संस्कृति
२. पौराणिक वंशानुचरित से संस्कृति का ज्ञान
३. पुराण-कालीन लोगों की मनोरञ्जन-प्रियता
४. दण्ड-विधान
५. दान-माहात्म्य
६. पौराणिक वर्ण-व्यवस्था
७. पौराणिक युग की भोजन-सामग्री

—८—

मेघदूत का शिल्प एवं संवेदन ४४-४६

—९—

यजुर्वेद में सरस्वती का स्वरूप ४७-५८

१. सरस्वती का भौतिक स्वरूप
२. सरस्वती की कुछ महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ
(क) यशोभगिनी
(ख) हविष्मती
(ग) सुदुघा
(घ) जागृवि
३. सरस्वती तथा सौत्रामणि यज्ञ
४. सरस्वती तथा भेषज् यज्ञ
५. एक चिकित्सिका के रूप में सरस्वती
६. सरस्वती और सारस्वत
७. एक दुधारु गाय के रूप में सरस्वती

—१०—

**कमल-पुष्प—कालिदास के परिप्रेक्ष में** ५९-६२

१. सामान्य परिचय

२. कमल का धार्मिक महत्त्व

—११—

**नाट्य के वैदिक स्रोत** ६३-८३

१. वैदिक कालीन मनोविनोद के साधन

२. ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्त

—१२—

**अथर्ववेद में प्रकृति तथा मानव** ८४-१२४

१. पृथिवी
२. पर्जन्य
३. सूर्य
४. अन्य

पृथिवी-स्थानीय—अग्नि, नदियाँ, सोम, अश्व, गो, वृषभ, पशु, पक्षी, ओषधि आदि।

अन्तरिक्ष-स्थानीय—मरुद्गण, अपां नपात्, मातरिश्वन्, आपः, वायु-वात

द्युलोक-स्थानीय प्राकृतिक पदार्थों में द्यौस्, सविता, उषा, सूर्य, पूषन्।

—१३—

**भारतीय विवाह-पद्धतियाँ** १२५-१४०

१. वैदिक पद्धतियाँ

(क) आसुर-विवाह
(ख) गान्धर्व-विवाह
(ग) अथर्ववेद के चौदहवें सूक्त का विवेचन
(घ) वैदिक युग में बाल-विवाह का अभाव
(ङ) वैदिक युग में विधवा-विवाह
(च) वदिक युग में एक पत्नी-विवाह-प्रथा
(छ) वैदिक बहुविवाह-पद्धति

२. वैदिकेतर पद्धतियाँ

—१४—

विष्णुधर्मोत्तर तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा १४१-१५१

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ब्रह्मा
२. विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा
३. मत्स्यपुराण में ब्रह्मा
४. मत्स्यपुराण के अनुसार ब्रह्मा की मूर्ति
५. ब्रह्मा के हेतुओं के तात्पर्यार्थ
६. प्रतीकों के प्रयोग तथा उद्देश्य
७. विभिन्न वस्तुओं तथा ब्रह्मा के शारीरिक अवयवों के प्रतीक
८. सामान्य प्रतीक
९. ब्रह्मा का वाहन
१० ब्रह्मा का वाहन हंस
११. हंस का तात्पर्य

—१५—

आधुनिक संस्कृत की प्रासङ्गिकता तथा प्रसार के व्यावहारिक उपाय १५२-१५५

—१६—

नाटच तत्त्व-सम्बन्धी ऋग्वैदिक सम्वाद-पाठच १५६-१६०

—१—

## वेदभाष्यपद्धति

वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनका समय अभी तक सर्वसम्मति से निश्चित नहीं हो सका है, अत एव ये जिस समय की रचना हैं, वे उस समय के समाज का अनेक दृष्टियों से विवेचन करते हैं। इनकी भाषा को समझना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि इनका आविर्भाव सुदूर प्राचीन काल में हुआ था। वेदों के अर्थों को समझाने की अनेक पद्धतियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही हैं और हम उन्हीं के आधार पर उनके गूढ अर्थों तक पहुँच सकते हैं। संक्षेप में ये पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं :

(१) निरुक्ति-पद्धति
(२) प्राचीन वेद-भाष्यकारों की पद्धति
(३) पाश्चात्य पद्धति
  (अ) जर्मन विद्वानों की पद्धति
  (ब) अंग्रेजों की पद्धति
  (स) अन्य विद्वान्
(४) दयानन्दीय पद्धति
(५) श्रीअरविन्द की पद्धति
(६) अन्य आधुनिक पद्धतियाँ

हम इन पद्धतियों की ओर अत्यन्त संक्षेप में सङ्केत कर रहे हैं।

### (१) निरुक्ति-पद्धति :

गूढ अर्थों को समझाने में निरुक्ति बहुत कुछ सीमा तक सहायक होती है। निरुक्ति में व्याकरण का महत्त्वपूर्ण योग है। दुर्गाचार्य[1] तथा स्वयं पाणिनि[2] द्वारा वर्णित पाणिनि-पूर्ववर्ती आचार्यों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है, जिससे हम यह कह सकें कि उनके द्वारा रचित किन ग्रन्थों की पद्धति-विशेष ने वेदार्थ-ज्ञापन में हमारी सहायता की है। इन्द्र-व्याकरण केवल हमारे श्रवण-पथ का विषय मात्र

---

१. दुर्गाचार्य के आठ शाब्दिक आचार्य हैं—इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर तथा जैनेन्द्र।

२. पाणिनि के शब्दानुशासन में ये आचार्य मिलते हैं—आपिशलि काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य तथा सेनक।

बनकर रह गया है, अत एव इन्द्र प्राचीन वैदिक व्याकरण के मुनि थे, इस मान्यता ने हमें कथमपि लाभान्वित नहीं किया।

इस प्रसङ्ग में दूसरा युग यास्क का आता है, परन्तु यास्क सर्वप्रथम वेद-व्याख्याता आचार्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि स्वयं दुर्गाचार्य ने **निरुक्त**[३] की व्याख्या में १४ **निरुक्त-ग्रन्थों** की ओर सङ्केत किया है। यास्क ने निरुक्त में १२ प्राचीन निरुक्तकारों का उल्लेख किया है।[४] वेदों का अर्थ समझना अत्यन्त कठिन हो गया होता, यदि **ब्राह्मण** ग्रंथों में वेदों के कठिन शब्दों की निरुक्ति नही की गई होती। **ब्राह्मण** यज्ञ-प्रधान ग्रन्थ हैं, अत एव सायणाचार्य के अनुसार वेद यज्ञपरक हैं, परन्तु सायणाचार्य के पूर्ववर्ती निरुक्तकारों ने किस प्रकार वेदार्थ समझाने का प्रयास किया है, यह बात यहाँ यास्क तथा **निघण्टुओं** से जानना अभिप्रेत है।

**ब्राह्मण-ग्रन्थों** में स्थान-स्थान पर शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। कालान्तर में ऋषियों ने **निघण्टुओं** की रचना की और वेदों के कठिन शब्दों का सङ्कलन किया गया। इस से सहज में यह पता लगाया जा सकने लगा कि वेद में एक शब्द किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ एक उदाहरण पर्याप्त होगा। **निघण्टु**[५] में वाक् के ५७ अर्थ मिलते हैं, यथा श्लोकः, धारा, इला, गौः, गौरी, गान्धर्वी, गभिरा, गम्भीरा, मन्द्र, मन्द्राजनी, वशी, वाणी, वाणीची, वाणः, पविः, भारती, धमनिः, नालिः, मेना, मेलिः, सूर्या, सरस्वती, निवित्, स्वाहा, वग्नुः, उपब्दिः, मायुः, काकुत्, जिह्वा, घोषः, स्वरः, शब्दः, स्वनः, ऋक्, होत्रा, गीः, गाथा, ग्नः, धेना, इत्यादि। इसके अतिरिक्त हमें यह ज्ञात होता है कि एक शब्द वेद में किन-किन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कौन शब्द किसके पर्याय हैं और किस-किस के भिन्नार्थक। अस्तु। सभी प्राचीन निरुक्तकारों में यास्क का **निरुक्त** वेदार्थानुसन्धान में विशेष महत्व का है। **निरुक्त में १४** अध्याय हैं, जिनमें **निघण्टु** के पाँच अध्यायों में यास्क ने वैदिक शब्दों की व्याख्या निरुक्तिपूर्वक किया है तथा बाद में उन मंत्रों की व्याख्या की है, जिनमें ये शब्द आए हैं। इस प्रकार सर्वप्रथम यास्क ने वेदार्थ का द्वार हमारे लिए खोला। उन्होंने **निरुक्त** में अन्य मतों को भी उद्धृत किया है, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :

(१) नैरुक्ता :
(२) ऐतिहासिका :
(३) आध्यात्मिका :

---

३. द्र० **निरुक्त-भाष्य**, १.१३, २०

४. आग्रायण, औपमन्यव, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, तैटीकि, वार्ष्यायण, शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि।

५. **निघण्टु**, १.१

यास्क ने इति नैरुक्ताः, इति ऐतिहासिकाः, इत्यादि कह कर अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है तथा स्वयं निरुक्तियाँ की हैं, अत एव यह अन्य नैरुक्तों के कुछ-कुछ समीप हैं। यास्क प्रमुखतः प्रकृतिवादी हैं। अपने से पूर्व प्रचलित ऐतिहासिक तथा आध्यात्मिक पद्धतियों को इन्होंने नया मोड़ दिया है। दो एक उदाहरण इस कथन की पुष्टि करेंगे। वेद में इन्द्र तथा वृत्र का युद्ध एक आध्यात्मिक वर्णन माना गया है। यास्क ने इसे प्रकृतिवादी मत के आधार पर प्रकाश एवं अंधकार, वृष्टि अथवा अनावृष्टि का रूप माना है। ऐतिहासिकों का मत है कि अश्विनौ दो राजा हैं—अश्विनौ = राजानौ, परन्तु यास्क ने इन्हें अन्धकार एवं प्रकाश के रूप में स्वीकार किया है।

## (२) प्राचीन वेद-भाष्यकारों की पद्धति :

यास्क ने अपने परवर्ती आचार्यों का मार्ग प्रसृत किया है, इस में तनिक भी संदेह नहीं है। यों तो वेद-भाष्यकारों की एक लम्बी परम्परा है, जिनमें स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, हस्तामलक, वेङ्कटमाधव, भट्टगोविन्द, लक्ष्मण, धानुष्क-मज्वा, रावण, मुद्गल, शौनक, उव्वट, महीधर, माधव, महास्वामी आदि मुख्य हैं। इन सब में सायण अग्रगण्य हैं। अन्य आचार्यों ने वेद के किसी एक भाग पर अपना-अपना भाष्य लिखा है, परन्तु सायण ने वेद के सम्पूर्ण भागों पर भाष्य लिखकर अपनी प्रखर प्रतिभा का प्रमाण दिया है। वेद के समुचित अर्थ का पता कैसे लग सकता है, इस का एक ही उत्तर भारतीय परम्परा है। सायण ने उस परम्परा का आदर किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य यास्क का अनुकरण किया है। उन के द्वारा की गई अनेक निरुक्तियों को यथावत् उद्धृत किया है। यास्क स्वयं परम्परा के मानने वाले थे तथा उस परम्परा का पालन करने वालों को उन्होंने 'पारोवर्यवित्' कहा है। सायण पारोवर्यवित् हैं।[६] दूसरे वह योगी एवं ऋषि कल्प हैं और जब यास्क यह कहते हैं कि जो व्यक्ति ऋषि नहीं है, वह वेद के अर्थ को नहीं समझ सकता।[७]

सायण ने एक योगी एवं ऋषि के रूप से वेद-भाष्य लिखा है। सम्पूर्ण वेद को इन्होंने यज्ञपरक माना है, अर्थात् सम्पूर्ण वेद की इन्होंने यज्ञपरक व्याख्या की है। प्रत्येक यज्ञ किसी न किसी देव को साक्षी बनाकर किया जाता है। यही कारण है कि सायण ने प्रत्येक सूक्त के साथ उस का देव, ऋषि तथा छन्द का नाम दिया है। मंत्रों के विनियोग पर बल दिया है। किस मंत्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है, मंत्र का प्रयोग केवल उसी अर्थ में साभिप्राय किये जाने को विनियोग कहते हैं। सायण इसी मत के पक्षपाती थे। वस्तु-स्थिति यह है कि सायण वेद का अर्थ यज्ञपरक करते हैं तथा उनकी भाषा में निरुक्ति तथा आध्यात्मिकता तो

---

६. बलदेव उपाध्याय, **आचार्य सायण एवं माधव** (प्रयाग, संवत् २००३)

७. **वही**, पृ० १२५

है ही, साथ ही साथ उसमें प्रकृति-परक व्याख्या के तत्व भी यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरण के रूप में 'भारती' को ले सकते हैं। भारती ऋग्वैदिक देवियों का त्रिक बनाती है।[८] सायण ने इसे 'द्युस्थाना वाक्' माना है। यह व्याख्या कष्ट-साध्य है, अत एव इसे अधिक स्पष्ट रूप से सूर्य से सम्बद्ध कर 'रश्मिरूपा' कह दिया है।[९] 'रश्मिरूपा' का अर्थ अधिक स्पष्ट है, क्योंकि 'रश्मि' प्रकाश-रूप से ज्ञान का प्रतीक है। सायण ऋषि होने के साथ-साथ महान् योगी थे। यास्क ने कहा है कि जो ऋषि है, वही ठीक-ठीक वेदों के अर्थ को ग्रहण कर सकता है। यह बात नितान्त सत्य जान पड़ती है। सायण ने सभी वेदों पर भाष्य लिखा है, जो साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं हो सकता। योगी जिस प्रकार अपनी योगसाधना के द्वारा गूढतम वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है, तद्वत् सायण ने अनेक गूढ वैदिक रहस्यों को उद्‌घाटित करने का प्रयत्न लिया है। उन्होंने **ऋग्वैदिक** एक मंत्र में आए परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप में वाणी के चार स्वरूपों का वर्णन किया है। इन्होंने 'परा' की विशेष व्याख्या नहीं की है। जिस प्रकार योगी किसी रहस्यमय वस्तु को अपने मन में बोध कर सन्तोष-लाभ कर लेता है, तद्वत् सायण 'परा' के विषय में कहते हैं कि यह परम चरण ऋषियों के द्वारा ही द्रष्टव्य है, अत एव यदि हम यह कहें कि सायण की व्याख्या में वैदिक योग की अन्विति है, तो इसमें अत्युक्ति नहीं होगी।

## (३) पाश्चात्य पद्धति :

पाश्चात्य पद्धति के अन्तर्गत प्रमुख रूप से जर्मनी से मैक्स म्यूलर, फ्रांस से रेनु तथा इंग्लैण्ड से मैकडानेल, कीथ, विल्सन, ग्रीफिथ् आदि उल्लेखनीय हैं। आज-कल यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाता है कि पाश्चात्य देशों में वेदों के अर्थ को समझने का जो प्रयास हो रहा है, उस प्रयास में सायण-भाष्य का महत्वपूर्ण योग है। उपर्युक्त विद्वानों में मैक्स म्यूलर को छोड़कर प्रायः सभी विद्वानों ने सायण का अनुसरण किया है। मैक्स म्यूलर की मान्यता कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि आर्य भारत में कहीं बाहर से आए। वे सामान्य जन की भाँति यहाँ (भारत) में आए। यहाँ आकर उन्होंने प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों को देखा और प्रसन्नता के अतिरेक में उन्होंने सूर्य को देखा, तो गीत गा दिया। कभी चाँद को देखा, तब गीत गा दिया। इस प्रकार वेद ऐसे गीतों का एक समूह-मात्र है, अत एव मैक्स म्यूलर प्रकृतिवादी हैं। उन का कथन है कि देवों एवं असुरों का संघर्ष प्रकाश एवं अन्धकार की शक्तियों का मानवीकरण है। इसी प्रकार वेद में १२ प्रकार के आदित्यों का वर्णन मिलता है। इस विषय में मैक्स म्यूलर का कथन है कि ये आदित्य के बारह रूप साल में होने वाले केवल १२ माह हैं और कुछ नहीं, परन्तु मैक्स म्यूलर का यह मत सर्वथा भ्रामक

---

८. ऋ० १.१४२.९

९. द्र० सायण-व्याख्या २.१.१

है, क्योंकि यहाँ भारतीय परम्परा का समूल नाश प्राप्त होता है। **वैदिक मंत्रों** को वैदिक ऋषियों ने केवल देखा है। वैदिक मंत्रों को ऋषियों ने रचा नहीं है, अत एव ऋषि द्रष्टा-मात्र हैं। यास्क के **निरुक्त** में ऋषि की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

**"ऋषिर्दर्शनात्। तद्यदेतान् तपस्यमानान्···ऋषित्वमिति ह विज्ञायते"**

इस प्रकार यहाँ ऋषि की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई गई है :

(१) **ऋषि**=दृश् (देखना)

(२) **ऋषि**=ऋष् (तेजी से दौड़ना)=(to rush)

इस प्रकार जब ऋषियों ने ध्यान लगाया, तो वे वैदिक मंत्र ऋषियों को भासित (revealed) हो गये, अत एव कवि द्रष्टा है, न कि कर्त्ता। मैक्स म्यूलर का यह कथन कि वेद साधारण जनों के गीतमात्र हैं, कथमपि सत्य नहीं।

इतना होते हुए भी मैक्स म्यूलर की वेद के क्षेत्र में महती देन यह है कि उन्होंने वेद के अध्ययन से हमें दो प्रकार से लाभान्वित किया है। उन्होंने वेदों में दी गई निरुक्तियों के आधार पर Science of Language को जन्म दिया तथा कथाओं के आधार पर Science of Mythology उत्पन्न किया। यास्क के निरुक्ति-प्रधान **निरुक्त** का प्रभाव मैक्स म्यूलर पर पड़ा तथा वह यास्क की भाँति प्रकृतिवादी बने रहे।

## (४) दयानन्दीय पद्धति :

इस पद्धति के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द हैं। स्वामी जी का ऋग्वेद के सातवें मण्डल के १६१ वें सूक्त के दूसरे मंत्र तक का ही भाष्य उपलब्ध होता है। इनका सम्पूर्ण भाष्य **यजुर्वेद** पर है। स्वामी जी एकेश्वरवाद के पक्षपाती हैं। उनका कथन है कि वेद में केवल ईश्वर की ही स्तुति है। इन्द्र, वरुण, रुद्र, अग्नि आदि की स्तुतियों में ईश्वर की ही स्तुति है। इनकी वैदिक व्याख्या आध्यात्मिकी है। उसमें किसी भौतिक वस्तु का वर्णन नहीं है। सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ नहीं। संक्षेप में स्वामी जी की शैली का इस प्रकार निरूपण किया जा सकता है—"स्वामी दयानन्द के भाष्य में समस्त वैदिक छन्द यौगिक माने गये हैं। शब्दों का सम्बन्ध धातु से दिखा कर उन्हें यौगिक अर्थ में ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। स्वामी जी का कहना है कि हमें प्रकृति तथा प्रत्यय से लभ्य अर्थ से ही संतोष नहीं करना चाहिए, अपितु[१०] प्रकरण तथा विशेषणों का भी ध्यान रखना चाहिए···स्वामी जी मंत्रों की विनियोगिता को भी स्वीकार करते हैं तथा आध्यात्मिकता पर बल देते हुए वसिष्ठ, कश्यप आदि का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। यौगिक रीति से अर्थ करते समय देवताओं के अर्थ उनके समूह के आधार पर किये हैं। सभी देव ब्रह्म के रूप हैं। उदाहरण के लिए **ऋग्वेद**

---

१०. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० २२३

का एक मंत्र लिया जा सकता है,[११] जिसमें आध्यात्मिक पक्ष को भली-भाँति समझा जा सकता है। यौगिक शब्द 'अश्व=व्यापक' तथा पृथिवी=फैलाव' अर्थ में गृहीत हैं।

### (५) श्रीअरविन्द की पद्धति :

श्रीअरविन्द की वेद-व्याख्या में उनके योगत्व[१२] की गन्ध उपलब्ध होती है। श्रीअरविन्द ने वैदिक शब्दों को यौगिक रूप में लिया हैं। वैदिक शब्दों में आध्यात्मिकता है तथा सभी शब्द किसी आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

सूर्य=Super mind
उषा=ज्ञान
अश्व=आध्यात्मिक शक्ति
गाय=ज्ञान
घृत=प्रकाश
अग्नि=प्राण

अर्थात् यहाँ अश्व से अभिप्राय सामान्य दौड़ने वाला घोड़ा नहीं है, अपितु यह अश्व वेद में श्रीअरविन्द की दृष्टि में शक्ति, आध्यात्मिक सामर्थ्य तथा तपोबल का प्रतीक है। संक्षेप में अद्वैत जिस परम तत्व की सूचना देता है, वेद अपने शब्द-प्रतीकों के द्वारा उसी परम सत्य की ओर संकेत करते हैं।[१३] अरविन्द की व्याख्या में पूर्व-कथित कतिपय अन्य मतों का सम्मिश्रण है, परन्तु अपनी योग-दृष्टि तथा प्रकृति-परक व्याख्या के आधार पर इन्होंने वैदिक व्याख्या को एक नया मोड़ दिया है। प्रकृति-परक व्याख्या उसे कहते हैं, जहाँ भिन्न-भिन्न सूक्ष्म अथवा स्थूल वस्तु को प्रकृति के स्थूलभूत पदार्थों से सम्बद्ध कर उन्हें किसी आध्यात्मिक वस्तु का रूप स्वीकार कर

---

११. ऋ० १.१६४.४६

१२. कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन-काल में जब श्रीअरविन्द कारागार में थे और जब उन्हें वहाँ किसी तैलादि प्रसाधन-सामग्री उपलब्ध नहीं थी, उस समय भी उनके बाल काले तथा चिकने थे। यह देखकर अंग्रेजों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे इस रहस्य का उद्‌घाटन करना चाहते थे, अत एव वे छिपकर उनकी गति-विधियों का निरीक्षण करने लगे। उन्होंने श्रीअरविन्द को आसन एवं समाधि का पालन करते हुए पाया।

१३. ऋ० १.१६४.४६
(एकं तत्)
ऋ० १०.१२९.२
(तदेकम्)

लिया जाता है।[१४] प्रकृति-परक व्याख्या से हट कर इन्होंने ऐसे शब्दों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है, जो सर्वथा नवीन हैं। इन्होंने इला, सरस्वती तथा भारती को क्रमशः 'drsti' 'Sruti' तथा 'the largeness of the truth Consciousness' कहा है। इसी प्रकार जल (water) को लेकर उसका स्वरूप निश्चित किया है। वह **ऑन द वेद** में लिखते हैं कि 'जल ऊपर उठता है, फिर गिरता है,…'' आदि द्वारा उस जल से सम्भवतः वह प्राण की सार्वभौमिकता ब्रह्म-तत्व से करते प्रतीत होते हैं। इन्होंने 'योग' को 'Inward journey to the Supreme' कहा है। इन्होंने अनेक गूढ एवं रहस्यमय तत्वों को 'Anthropomorphism, Consciousness force, Supermind, integral yoga आदि से समझाने का स्तुल्य प्रयास किया है।

## (६) अन्य आधुनिक पद्धतियाँ :

प्राचीन काल में वेद-भाष्य संस्कृत में लिखे गये थे। तदनन्तर उन्हें लोक-प्रिय बनाने का प्रयास आङ्गल-भाषा के माध्यम से किया गया। डॉ० आमन्द कुमार स्वामी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए न्यू एप्रोच टु दी वेदान्त' में वेदों की व्याख्या की विशिष्ट शैली का प्रतिपादन किया है। उनका अभिमत है कि वेद सिद्धों की वाणी है, अत एव उसके अर्थों को सिद्धों के वचनों के संदर्भ से भली-भाँति जाना जा सकता है। इस कार्य में उन्होंने सभी धर्मों के सन्तों के साहाय्य की अनिवार्यता स्वीकार की है। वेदों को हिन्दी-भाषा के माध्यम से समझाने का स्तुत्य कार्य पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने किया है। यह इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कार्य है। श्री दामोदर जी का यह लक्ष्य रहा है कि वेदों का सही अर्थ किया जाय और वह केवल विद्वान् के लिए न होकर सर्वसामान्य के बोध के लिए हो। इन्होंने अपनी प्रकृति-परक व्याख्या के आधार पर आध्यात्मिक वस्तुओं को भी बोधगम्य बनाया है। एक स्थान पर इन्होंने सरस्वती का अर्थ बादलों में रहने वाली 'सरस्वती' किया है, परन्तु वही सरस्वती धरती पर भी बहने वाली 'सरस्वती' ही है। इसके पीछे 'सृ' धातु का अर्थ ही काम कर रहा है। कुछ लोग बहुत ही कम पढ़े लिखे हैं और उन्होंने अपनी साधारण प्रतिभा के आधार पर वेदार्थ किया है। ऐसे लोगों में श्री बशीर मयूख का नाम उल्लेखनीय है। यह राजस्थान के निवासी हैं। इनके द्वारा किया गया वेदार्थ 'ग्रामीण शैली' का आदर्श प्रस्तुत करता है।

---

१४. विशेष ज्ञान के लिए द्रष्टव्य श्रीअरविन्द, **'हिम्स टू दि मिस्टिक फायर'**, भूमिका-भाग, पृ० १९, ३२ तथा Sri Aurobindo, **On the Veda (Pondicherry, 1956)**

—२—

# कारक-विचार

कारक का अर्थ करने वाला या कार्य का साधन है। साधन अथवा हेतु को स्वतः एक कारक माना जाता है। कारक पर विचार करते समय दो बातें हमारे सम्मुख आती हैं अथवा पूरे वाक्य को कारक का विचार करते समय दो भागों में बाँट देना चाहिए। वाक्य में क्रिया प्रमुख होती है तथा उस क्रिया को सम्पादित करने में अनेक शब्दों का प्रयोग होता है। क्रिया को छोड़कर वे सभी शब्द कारक हैं। क्रिया का महत्व अत्यन्त प्राचीन काल से स्वीकृत है। यास्क ने इस बात को **निरुक्त** में स्पष्ट कर दिया है। व्याकरणशास्त्र में कृदन्त प्रत्ययों तथा कारकों के माध्यम से क्रिया के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया गया है। कारक पर विचार करते समय हम देखते हैं कि विभक्तियों को कारकों से अलग नहीं किया जा सकता। कभी-कभी दोनों को समान जान लिया जाता है, अत एव यहाँ अपेक्षित है कि कारक तथा विभक्ति पर एक सम्यक् विचार प्रस्तुत किया जाय।

## १. कारक तथा विभक्ति :

हम सर्वप्रथम कारक तथा विभक्ति विषयक विभिन्न विद्वानों के मतों को प्रस्तुत कर रहे हैं। कुछ विद्वानों के मत में कारक तथा विभक्ति दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कुछ विद्वानों ने कारक तथा विभक्ति दोनों को एक माना है। कुछ कारक की शक्ति को विभक्ति मानते है :—"**विभक्तिरिह कारकशक्तिः विभज्यते अनया प्रातिपदिकार्थं इति व्युत्पत्तेः।**" इसका अर्थ यह है कि कारक-शक्ति के आधार पर प्रातिपादिक का अर्थ विभक्त किया जाता है, अत एव विभक्ति को कारक-शक्ति माना जाता है। कुछ विद्वानों ने कारक-प्रकरण प्रारम्भ कर अन्त में '**इति विभक्त्यर्थाः**' से उसकी समाप्ति की है। इससे ज्ञात होता है कि प्रातिपदिकार्थ विभक्ति के अर्थ हैं, जो कारकों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। प्रातिपदिकार्थ पर आगे प्रकाश डाला गया है।

विभक्ति तथा कारक में प्रत्ययों का भेद है। एक ओर कर्त्ता, कर्म, करण आदि में क्त्र्, मनिन्, ल्युट् आदि प्रत्यय लगे हैं तथा विभक्तियों में सुप् प्रत्यय लगते हैं। कोई भी शब्द कारक बनने के लिये अपनी प्रातिपदिक अवस्था में सु आदि की अपेक्षा रखता है। इससे ज्ञात होता है कि कारक तथा विभक्तियों का अटूट सम्बन्ध है। कारक तथा विभक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध को देखते हुए इन्हें एक भी माना जा सकता है है तथा कुछ भिन्न भी माना जा सकता है। इस भिन्नता को एक लौकिक उदाहरण से भली-भाँति जाना जा सकता है। हम अपनी आँखों से देखते हैं कि राम एक व्यक्ति है तथा इस व्यक्ति की अनेक सन्तानें हैं। हम यह भी देखते हैं

कि राम व्यक्ति की सन्तानों में प्रत्यक्षतः राम से कुछ अन्तर है, लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि वे राम से सर्वथा भिन्न हैं। राम के कार्यों से हम निश्चित करते हैं कि वह एक पुण्यात्मा व्यक्ति है। पुण्यत्व उसका एक गुण है। इस गुण को दृष्टि में रखकर जब हम उस की सन्तानों को देखते हैं, तब उन्हें भी पुण्यात्मा पाते हैं। राम इस गुण का सामान्यतः आधार है। राम की सन्तानें राम की शक्ति हैं। इसी प्रकार विभक्तियाँ कारकों की शक्तियाँ हैं। शक्ति तथा शक्तिमान् में अभेद होता है, अत एव कारकों तथा विभक्तियों को एक मानना उचित प्रतीत होता है। ऊपर इसी शक्ति की ओर संकेत किया गया है। इसे पुनः निम्नलिखित कथन से पुष्ट किया जा सकता है।

"व्याकरण शास्त्र में कारकत्व तथा तद्व्याप्त कर्त्तव्य कर्मत्वादि शक्ति तथा शक्तत्याश्रय द्रव्य, इन दोनों को ही कारक के रूप में माना जाता है। जैसे उत्पत्ति के अनुसार कहीं शक्ति को ही कारक के रूप में से माना जाता है, **'सप्तमी-पञ्चम्यौ कारकमध्ये'** (२-३-७) इस सूत्र में 'शक्ति' को कारक के रूप में माना गया है। **तत्त्ववोधिनी** टीका में इस सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में आचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वती जी ने कहा है **(नाम शक्त्याश्रयः शक्त्याश्रयः ?) कारकमिति व्यवह्रियते, किन्तु शक्तिरेव**। उसी सूत्र की व्याख्या में नागेशभट्ट जी ने भी कहा है **कर्त्तृत्वादिशक्तिरेव कारकम्, सा च क्रियाभेदेन भिन्नेति भावः**।"[1]

## २. प्रातिपदिकार्थ-विषयक प्रश्न :

संस्कृत में सुबन्त तथा तिङन्त को पद कहते हैं। प्रातिपदिक संज्ञा उस शब्द की होती है, जो अर्थवत् हो। तिङन्त पद की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है। प्रातिपदिक संज्ञा के विषय में कहा गया है कि "**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**।"[2] इसका भाव यह है कि धातु तथा प्रत्यय को छोड़कर अर्थवान् शब्द-रूप की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। जिसे अंग्रेजी में Crude form कहते हैं, उसे ही संस्कृत में प्रातिपदिक कहते हैं। प्रातिपदिक होने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द अर्थवान् हो तथा अर्थ शब्द से नियत रूप से सम्बद्ध हो। संस्कृत में शब्द सार्थक होते हुए भी निरर्थक है, यदि वह विभक्ति-रहित है। विभक्ति-युक्त हुआ शब्द अर्थवान् हो जाता है और शब्द के अर्थ को प्रगट करने के लिए प्रथमा विभक्ति लगाई जाती है। प्रथमा विभक्ति लगाने से जो अर्थ नियत रूप से उपस्थित होता है, वह प्रातिपदिकार्थ है—**नियतोपस्थितकः प्रातिपदिकार्थः**। सामान्यतः उपसर्गों को प्रातिपदिक नहीं मानते हैं, परन्तु उच्चैः और नीचैः को भी प्रातिपदिकार्थ माना गया है और उन्हें अलिङ्ग बताया गया है।

१. दिनेश चन्द्र गुह (व्याख्याकार), **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** (वाराणसी, १९७०), पृ० २०

२. सि० कौ० २१.२.४५

नियत लिङ्ग वाले शब्द कृष्णः, श्री तथा ज्ञानम् हैं। भट्टोजिदीक्षित ने इन्हें प्रातिपदिकार्थ माना है। "उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। **अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्।**" इससे यह ज्ञात होता है कि अलिङ्ग तथा नियत लिङ्ग वाले शब्द प्रथमा विभक्ति से युक्त हुए प्रातिपदिक के अर्थ हैं। पुनः भट्टोजिदीक्षित ने लिङ्ग, परिणाम तथा वचन दिया है और कहा है कि प्रथमा विभक्ति इनको बताने में प्रयुक्त होती है। अब प्रश्न है कि क्या इन्हें भी प्रातिपदिकार्थ माना जा सकता है अथवा नहीं अथवा किन्हीं अन्य उपायों से उन अर्थों का बोध होता है? यदि वे उपाय प्रथमा विभक्ति से भिन्न हैं या प्रत्यय आदि हैं, तब इन शब्दों के अर्थों को प्रातिपदिकार्थ नहीं माना जा सकता है। भट्टोजिदीक्षित पुनः लिङ्ग का उदाहरण प्रातिपदिकार्थ के बाद दिया है और वे प्रत्यय से युक्त हैं, अत एव स्पष्टतः उन्हें प्रातिपदिकार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्पष्टतः तटी प्रत्ययान्त शब्द है। इसी प्रकार प्रमाण को ले सकते हैं। प्रमाण प्रत्यय का अर्थ है, क्योंकि इस सम्बन्ध में अन्वय इस प्रकार बनता है '**द्रोण-रूप परिणाम**'—यह द्रोण प्रकृति है तथा परिमाण प्रत्यय है। इस प्रकार परिमाण प्रातिपदिकार्थ नहीं है।

प्रातिपदिकार्थ के विषय में जानने के लिए कतिपय विद्वानों के मतों को समझना अनिवार्य है। भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या तथा कारक प्रातिपदिकार्थ हैं। भट्टोजिदीक्षित द्वारा दी गई परिभाषा केवल स्वार्थ तथा द्रव्य में घटित होती है। भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारक पाँच प्रातिपदिकार्थ हैं। किसी ने केवल जाति को, किसी ने केवल व्यक्ति को, किसी ने स्वार्थ तथा द्रव्य को, किसी ने स्वार्थ, द्रव्य तथा लिङ्ग को तथा किसी ने स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग तथा संख्या को प्रातिपदिकार्थ माना है।[२]

भट्टोजिदीक्षित द्वारा दी गई प्रातिपदिकार्थ व्याख्या लिङ्ग, परिणाम तथा वचन से रहित है तथा वह केवल स्वार्थ तथा द्रव्य को ही स्पर्श कर रही है। इसे ही प्रातिपदिकार्थ मानना उचित प्रतीत होता है।

## ३. विभाषा कृञि[३] की व्याख्या :

इस सूत्र को समझने के लिए यह आवश्यक है कि **अष्टाध्यायी** में दिये गए इसके पूर्व एक अर्थ को समझ लें। इस संदर्भ में एक सूत्र **गतिश्च**[४] आता है। '**प्रादयः उपसर्गाः**' से प्र, परा, अप, सम् आदि उपसर्ग माने गये हैं। इन्हीं उपसर्गों में अधि

---

१. उद्धृत दिनेश चन्द्र गुह (व्याख्याका०) **वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी** (वाराणसी-१९७०), पृ० ५

२. वही, पृ०४-५

३. अष्टा० १.४.९८

४. वही, १.४.६०

भी आता है। इस अधि की कहीं गति संज्ञा होती है तथा यह अधि कहीं कर्मप्रवचनीय हो जाता है। पाणिनि ने अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा करते हुए एक दूसरा सूक्त इस प्रकार लिखा है : **अधिरीश्वरे**[१]—**"स्वस्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।"** अर्थात् स्व और स्वामी का सम्बन्ध बताने के लिए अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा रुक जाती है और तब अधि किसी विभक्ति का विधायक बन जाता है। काशिकाकार ने गतिसंज्ञा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि **'गतिसंज्ञकाश्च प्रादयो भवन्ति क्रियायोगे। प्रकृत्य, प्रकृतम्। यत् प्रकरोति·····।'**[२] इस उदाहरण में प्र की गति संज्ञा दिखाई गई है तथा वह क्रिया से संयुक्त है। यही दशा अधि की गति संज्ञा होने पर होगी। अधि की गति संज्ञा होने पर स्वरों में अन्तर आ जाता है। स्वरों की प्रक्रिया-विधान में उपसर्गों को लक्ष्य करके कहा गया है कि **आद्युदात्ताः उपसर्गा अभिवर्जम्** अर्थात् अभि को छोड़कर उपसर्ग आदि उदात्त होते हैं। **अधि** की गति संज्ञा क्रिया के योग में होती है। इस कथन से ज्ञात होता है कि कर्मप्रवचनीय पदों का योग क्रिया से नहीं होगा, इसीलिये पाणिनि ने **कर्मप्रवचीनाः**[३] द्वारा **कर्मप्रवचनीय** पदों को क्रिया से अलग रखा है। (१) "······**शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्**,"[४]—यह उदाहरण **काशिका** का है। (२) "······**पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्**"[५]—यह उदाहरण **सिद्धान्त-कौमुदी** का है। इन दोनों उदाहरणों में अनु को क्रिया से अलग रखा गया है, परन्तु कर्मप्रवचनीय पद का क्रिया के साथ योग भी पाया जाता है। "**अधिरीश्वरे**[६]" सूत्र से ज्ञात होता है कि अधि की अनेक धातुओं (क्रियाओं) के साथ स्व तथा स्वामिभाव सम्बन्ध में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती, परन्तु कृ धातु से विकल्प से होती है।[७] कृ धातु से **अधि** की गति संज्ञा भी होती है। गति संज्ञा तथा कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने पर स्वरों में अन्तर आ जाता है। इस अन्तर को नीचे के उदाहरणों से पुष्ट किया गया है। **अष्टाध्यायी** के "**तिङि च उदात्तवति अनुदात्तं पदम् एकवर्जम्**[८]" के अनुसार पद में एक स्वर उदात्त होता है तथा शेष अनुदात्त होते हैं। इस प्रकार जब अधि की गति संज्ञा हो कर **'अधिकरिष्यति'** पद बनता है, उस समय स्वर-विधान के अनु-

---

१. **वही**, १.४.९७
२. **काशिका**, प्रथम **भाग**, चौखम्बा, १९६९, पृ० ७८
३. **अष्टा०** १.४.८३
४. **काशि०**, प्रथम भा० पृ० ११९
५. **सि० कौ०** कारक, पृ० २.३.८
६. **अष्टा०** १.४.९७
७. वही, १.४.९८
८. वही, ८.१.७१

सार यह पद '**अधिकरिष्यति**' होगा। अब **अधिकरिष्यति** में ष्य प्रत्यय है, अत एव उदात्त रखने का विधान है। उदात्त के बाद यदि अनुदात्त हो, तो उसे स्वरित कर दिया जाता है। इस नियम से "**अधिकरिष्यति**" पुनः "**अधिकरिष्यति**[1]" हो जायेगा। अधि को 'कर्मवचनीय' मानने पर अधि को सर्वानुदात्त नहीं होगा और उस समय अधि करिष्यति रूप बनेगा। अधि में अ अनुदात्त नहीं है, परन्तु गतिसंज्ञक होने पर अधि अनु हो जाता है।[2]

---

१. **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**

२. उद्धृत डॉ० दिनेश चन्द्र गुह (व्या०) **सिद्धान्तकौमुदी**, पृ० ३२७, टिप्पणी संख्या २

"**अत्र करिष्यतीत्यत्र तिङन्तमुदात्तवत् तिङ्ङतिङ, इति निघातस्य 'निपाते-त्यादिना निषेधात्। ततश्च अधेरत्र गतित्वान्निघात इह प्राप्तः। कर्म-प्रवचनीयत्वे तु स न भवति तेन गतित्वस्य बाधात्। अतः अधेर्निघाताभावा-र्थमिदं सूत्रमिति सिद्धम्।**"

—३—

## श्री गणेश जी : एक विहगावलोकन

हमारी वैदिक एवं वैदिकेतर धार्मिक कथाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि उनमें धार्मिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि तत्त्वों का अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। एक ओर जहाँ वैदिक धार्मिक कथाएँ गूढ तथा अगम्य हैं, वहाँ दूसरी ओर पौराणिक धार्मिक कथाएँ अगूढ और बोध्य-गम्य है। उनमें आलङ्कारिता अधिक पाई जाती है। फलतः वे मानव-जीवन के निकटतम हैं, परन्तु यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य ने पौराणिक साहित्य को अधिक सीमा तक प्रभावित किया है। यही कारण है कि पिछली कई शताब्दियों से पुराणागत वेद-विषयक सामग्रियाँ अनुसंधानोत्सुक विद्वानों की केन्द्र-बिन्दु रही हैं। वेदों में देव-देवियों की मूर्तियों की अमूर्त तथा सूक्ष्म भाव-परक कल्पना की गई है। पुराणों ने ही सर्वप्रथम उनका मूर्तिकरण किया है। वैदिक देव-देवियाँ या तो बाद में आकर वैसी ही रही है, अथवा उनका चरित्र अधिक उभर आया है अथवा उन्होंने बहुतों को दबा कर अपने स्वरूप को निखारा है। तात्पर्य यह है कि उनका रूप समय-समय पर बदलता रहा है और साथ ही साथ कार्य-कलाप भी। बृहस्पति, वाचस्पति, ब्रह्मरशास्पति आदि पौराणिक काल में आकर ब्रह्मा में निहित हो जाते है। वैदिक देव, शिव, रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मणस्पति पौराणिक युग में आकर शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा में सम्मिलित हो जाते हैं और उनका कार्य-क्षेत्र भी वैदिक कार्य से भिन्न हो जाता है। वैदिक-काल की बहुत सी वाग्देवियाँ सरस्वती में मिल जाती हैं। पौराणिक काल में आकर यह देवी सरस्वती वाणी, बुद्धि, चातुर्य, संगीत, कलादि की अधिष्ठातृ देवी बन जाती है। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव भिन्न-भिन्न होते हुये भी एक ही हैं :

**नमस्तुङ्गशिरश्चुम्बिचन्द्रचामरचाखे ।**
**त्रैलोक्यनगरारम्भमूलस्तम्भाय शम्भवे ।।'**

**अर्थात्** शिव यदि शिरस्थ चारु चन्द्र-चामर से शोभित हैं, तो हिरण्यकेश ब्रह्मा भी त्रिलोकी-रूपी नगर के निर्माण में मूलस्तम्भ हैं। **"यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा"** इस वचन से स्वर्ग विष्णु का मस्तक है। उच्च द्युलोक में वर्तमान चन्द्रमा-रूपी चामर से अलंकृत विष्णु ही शिव हैं।

प्रकृत श्लोक में विद्याप्रदानरसिक भगवान् शङ्कर वैदिक देव रुद्र के प्रतीक अथवा प्रतिनिधि हैं। पुराणों में जो ग्यारह रुद्रों की कल्पना उत्पत्ति-सहित की गई है, वे रुद्र के अंश हैं। यद्यपि वेदों में इन्द्र और उनके अन्य साथी प्राकृतिक शक्तियों के

विरोधी सत्त्वों का नाश करते हैं और रुद्र, जो अपनी भृकुटी तानते हैं, पौराणिक युग में आकर वे ही शिव में मिल जाते हैं। वेदों में एक प्रकार से वे ही युद्ध के देवता हैं। पुराणों में आकर उनको अपना अंश बदलना पड़ता है। पौराणिक काल में शिव की जो पूजा की जाती है, उनमें अनेक स्थानीय देवों के स्वरूप सन्निहित हैं। उन देवों में गणेश अथवा गणपति प्रमुख हैं। गणेश को बुद्धि का देवता मानकर कभी-कभी इन्हें विद्या-प्रदान करने वाला देव भी स्वीकार किया गया है। यह युक्त भी है, क्योंकि शिव से भी प्रार्थना की गई है कि वह हमें विद्या प्रदान करें। गणेश का चातुर्य इससे भी सिद्ध होता है कि जब सारे देवता अपनी-अपनी सवारियों पर चढ़कर संसार की परिक्रमा करते हैं, तो गणेश अपने माता-पिता को ही महान् मानकर उनकी ही परिक्रमा कर विजय प्राप्त करते हैं। रुद्र के शिव में मिल जाने के कारण, शिव के अंशरूप विभिन्न स्थानीय देवों में उत्तरोत्तर परिवर्तन की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को भारत के दक्षिण भाग में गणेश जी की पत्नी बहुत दिनों तक स्वीकार किया जाता रहा है। सरस्वती के साथ गणेश जी की मूर्ति भी स्थापित होती रही है। अत्यन्त शीघ्र ही इस प्रथा का अन्त हुआ है।

यह बात निःसंदेह सत्य है कि स्थानीय देव, जो शिव के विभिन्न स्वरूप के विभिन्न प्रकटित स्वरूप हैं, उनमें श्री गणेश जी का प्रमुख स्थान है। इन्हें राक्षसों की सेनाओं का स्वामी माना गया है। इनकी पूजा-पद्धित पौराणिक काल से प्रारम्भ होती है। उत्तर भारत में प्राप्त **महाभारत** की प्रतिलिपि में श्री गणेश की कथा केवल एक बार आती है, अन्यत्र **महाकाव्य** में इनका नाम नहीं आता। सर्वप्रथम इनको हस्ति एवं मूषक से सम्बद्ध किया गया था, परन्तु अब इनकी स्वतन्त्र सत्ता है। यद्यपि यह शैव समुदाय वाले देवताओं की श्रेणी में आते हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल शैव ही इनका पूजन करते हैं अथवा गणेशजी उनके सम्मान्य देव हैं। जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है कि यह एक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र देव हैं, अत एव किसी विशेष धार्मिक समुदाय से इनका सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि सभी धर्म-समुदाय वाले इनके प्रति अपनी निष्ठा रखते हैं। प्रायः सभी हिन्दू घरों में इनकी प्रतिकृति पाई जाती है। इसका मूल कारण इनके स्वभाव में परिवर्तन है। इनको भाग्य का देव भी माना जाने लगा है।

वैदिक अथवा पौराणिक गाथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुछ देव जैसे के तैसे ही रहे हैं। कुछ ने अपना स्वरूप परिवर्तित किया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप बहुत से देवों ने अपने कार्यों को अन्य देवों को समर्पित कर दिया है। श्री गणेश जी भी इसी प्रकार के देव हैं। वह शिव के ज्येष्ठ पुत्र हैं तथा उनके गणों के स्वामी होने के कारण इनको गणपति के नाम से भी पुकारा जाता है।

भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम इनको विघ्न उत्पन्न करने वाला तथा सफलता को विफल करने वाला प्रदर्शित किया गया है। फलतः इनकी पूजा सर्वप्रथम विघ्नों से

अपने को बचाने के निमित्त की जाता थी, परन्तु इन्हें कठिनाइयों को दूर करने वाला बुद्धिमत्ता का देव एवं मनुष्यों के सन्मार्ग का स्वामी माना जाता है। आदरप्रदर्शनार्थ प्रायः समृद्ध घरों में इनकी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। बनारस में इनका विशाल मन्दिर है। भारत के अन्य अनेक स्थानों पर इनके मन्दिर हैं। दक्षिण भारत में इनका विशेष सम्मान है। ट्रावन्कोर में जब बच्चे अध्ययनार्थ पाठशाला में प्रथम बार प्रवेश करते हैं, तो उन्हें '**हरिः श्री गणेशाय नमः**', के साथ पुस्तक-पाठन कराया जाता हैं, '**ओं नमो नारायणाय**' के साथ नहीं। ट्रावन्कोर में अन्य विशेष प्रकार के मन्दिर पाये जाते हैं, जिन्हें **होमपुरस्** कहते हैं। वहाँ प्रतिदिन देश की उन्नति-हेतु गणेश जी को हवन अर्पित किया जाता है। ऊपर बताये गये कार्यों के अतिरिक्त गणेश जी की पूजा उत्तर भारत में प्रायः संरक्षक देव के रूप में की जाती है, परन्तु इनकी पूजा यहाँ जनसाधारण में उतनी जनप्रिय नहीं है, जितना कि दक्षिण भारत में है।

इस प्रकार गणेश तथा शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप प्राचीन भारत में कुछ जातियों का एक समुदाय था, जिसे '**गणपत्य**' कहते थे। इस 'गणपत्य' ने शिव के स्थान पर 'गणेश' की पूजा का प्रचार पूजकों में किया। इस प्रकार की पद्धित के प्रचार का स्रोत '**शङ्कर-विजय**' नामक ग्रंथ से उपलब्ध होता है, जिसके लेखक आनन्दतीर्थ थे। इस ग्रंथ की रचना १० वीं शताब्दी मानी गई है। ये 'गणपत्य' पुनः छः शाखाओं में विभक्त थे,जो महागणपति, हरिद्रा-गणपति, उच्छिष्ट-गणपति, नवनीत-गणपति, स्वर्ण-गणपति और सन्धान-गणपति नामों से अभिहित थे। ये सभी शाखाएँ गणेश को ही महत्ता प्रदान करती थीं, न कि शिव को। उनके अनुसार गणेश आदि स्रोत थे और जिनकी माया से ब्रह्मा तथा अन्य देवों की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार शङ्कर के वेदान्त दर्शन के आधार पर जो स्थान ब्रह्मा को मिल था, वह स्थान गणेश को मिल गया।

इन 'गणपत्यम्' के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ **ब्रह्म-वैवर्तपुराण** तथा **गणेश-पुराण** माने गये हैं। इनमें गणेश के जन्म तथा कार्यों की गाथाएँ पायी जाती हैं। गणेश-खण्ड में गणेश की पूजा की द्विविध-पद्धति प्रदर्शित है। एक पद्धति में गणेश का परमात्मा से तादात्म्य स्थापित किया गया है और उनकी आराधना अलौकिक पद्धति से निश्चित की गई है। दूसरी रीति के द्वारा गणेश-मूर्तिवर को फूलों का अर्पण तथा बलि-क्षेपण का विधान है, जो वार्षिक पूजा के अवसर पर किया जाता है। **गणेश-पुराण** तथा **गणेश-गीता** में गणेश की अद्वितीयता स्वीकार की गई है और उनको आदि सत्ता तथा परब्रह्म माना गया है तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव को निम्नतर श्रेणी का देव बताया गया है। **वेद** और **पुराण** दोनों में स्तुति की एक विचित्र पद्धति पायी जाती है। वह यह है कि जिस देव अथवा देवी की स्तुति की जाती है, वह ही सब कुछ है, अन्य देव निम्नतर श्रेणी के हैं, अत एव गणेश को लक्ष्य बनाकर जो बात ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के प्रति कही गई है, ऐसी बातें अन्य देवों के प्रति भी मिलेंगी। ऐसी

स्थिति में एक तटस्थ भावक व्यक्ति भ्रम में पड़ जाता है कि अन्ततोगत्वा श्रेष्ठ कौन है ? इस पद्धति से उद्वेजित होकर के मैक्स म्यूलर ने इस धारणा को हिनोथिज़्म का नाम दिया था।

कुछ लोगों ने गणेश को प्रारम्भिक रूप में द्रविड-सूर्य-देव माना है, जो बाद में आर्यों की देव-कोटि में आ गये। एक श्लोक मनु के नाम से पाया जाता है, परन्तु वह मनुस्मृति में नहीं आता। उसके अनुसार शम्भु को ब्राह्मणों का, विष्णु को योद्धाओं का, ब्रह्मा को वणिजों का और गणेश को शूद्रों अथवा आदिवासियों का देव बताया गया है। वस्तुतः यह प्रस्थापना पूर्णरूप से हास्यास्पद है, जिसमें सम्पूर्ण नैसर्गिक क्रमबद्धता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

# नैतिक शिक्षा की आधार-शिला संस्कृत

हम भारतीयों का जीवन अतीत से प्रभावित है। हम आर्यों की सन्तान हैं और आर्यों की अमूल्य निधि वेद हैं। वेद √विद् से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है। वेद वे अपौरुषेय ज्ञान हैं, जिन्होंने आदि से अब तक भारतीयों के जीवन को प्रभावित किया है। संस्कृत शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक √कृ धातु में क्त प्रत्यय लग कर बना है, जिसका अर्थ है—'जिसका संस्कार किया गया है।' इस आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि संस्कृत वह विद्या है, जो परिष्कृत है तथा अपने प्रभाव से दूसरों को संस्कृत या परिष्कृत करती है। संस्कृत का भाण्डार अपार है। यह वैदिक काल से लेकर अब तक अनेक स्रोतों में प्रवाहित होती रही है तथा हमारे जीवन-क्षेत्र को सिञ्चित करती रही है। हमारा सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग वैदिक साहित्य है तथा दूसरा भाग लौकिक साहित्य है। दोनों ने अपनी-अपनी विभिन्न प्रणालियों से मानव-जीवन को प्रभावित किया है। इन दोनों का प्रभाव अनेक क्षेत्रों में रहा है, परन्तु प्रकृत सन्दर्भ में हम यह स्पष्ट रूप में बता देना चाहते हैं कि संस्कृत-वैदिक तथा वैदिकेतर दोनों ने हमारे नैतिक स्तर को कितना प्रभावित किया है। हम सर्वप्रथम इस कथन पर विचार वैदिक सन्दर्भ में करेंगे।

हम जानते हैं कि वेदों में **ऋग्वेद** सर्वोपरि है। ऋग्वैदिक काल के काव्य में नैतिकता का बोल-बाला था। नीति से नैतिक शब्द बना है। नीति का अर्थ पथ-प्रदर्शन है। सामान्यतः इसका सम्बद्ध चरित्र अथवा व्यवहार से है, परन्तु इस शब्द का अर्थ अन्य क्षेत्रों में जाकर अन्य अर्थों को भी ध्वनित करता है।[१] मुख्यतः इसका सम्बन्ध चरित्र अथवा व्यवहार से है। यह नीति धर्म से भी प्रभावित होती है, परन्तु धर्म से हट कर सत्य तथा न्यायपूर्ण कार्य करने में भी नैतिकता का अर्थ प्रसृत है।

ऋग्वैदिक काल में जीवन-विद्या एक नियम से प्रभावित थी। उस समय देवों के सम्बन्ध से ऐसी बातों का प्रतिपादन किया गया है, जो मानव को अत्यन्त प्रभावित करती हैं। हम उदाहरण के रूप में वरुण को ले सकते हैं। वरुण नैतिकता के देव माने गये हैं। **ऋग्वेद** में वरुण का प्रमुख स्थान है। वह नियमों का संचालन करते हैं। वह मनुष्यों के पापों एवं पुण्यों, सत्य एवं असत्य का हिसाब रखते हैं। इस बात को लक्ष्य में रखकर एक मन्त्र में कहा गया है :

**अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति।**
**कृतानि या च कर्त्वा॥**[२]

भाव यह है कि वरुण मनुष्यों के किये गये तथा होने वाले कार्यों को देखते हैं।

वेदों की स्वतः मान्यता है कि यह संसार किसी नियम के वशीभूत हुआ कार्य कर रहा है। समय पर सूर्य निकलता है तथा समय पर अस्त होता है। इसी प्रकार उषा समय पर आती है और वह अत्यन्त प्राचीन काल से उसी प्रकार चली आ रही है, जिस प्रकार वह आज नियम का पालन करती आ रही है। एक मन्त्र[३] में कहा गया है कि हे उषा ! **'त्वं व्रतम् अनुचरसि'** अर्थात् हे उषा ! तुम व्रत को लक्ष्य करके विचरण कर रही हो।

**ऋग्वेद** में 'ऋत' का वर्णन प्राप्त होता है। ऋत का अर्थ शाश्वत् नियम है, जो स्वचालित है तथा वह विश्व का धारक है। इस ऋत से ही सभी का संचालन होता है। सूर्य, नक्षत्र, पृथिवी, वायु, पर्जन्य, पूषन् आदि सभी प्राकृतिक वस्तुएँ इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकतीं। ऋत को प्राकृतिक नियम कहा गया है। सर मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ इस प्रकार किया हैं :"......Proper, right, fit, ...honest, law, rule in religion, sacred or pious action or custom, divine law, faith, divine truth...।"[४]

यहाँ ऋत के माध्यम से एक संदेश दिया गया है, जो सार्वभौमिक है तथा जिसका सत्य एवं नियम से सम्बन्ध है। **ऋग्वेद** तथा अन्य वेदों के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय मनुष्यों का जीवन ऐसे नियमों से सुचालित था। जब कोई समाज अथवा राष्ट्र नियमों से बँध जाता है, तब उनसे समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति होती है। ऐसे नियम उपदेश-प्रद होते हैं और वे सभी को एकता के सूत्र में बाँध देते हैं। वैदिक काल में ऐसी ही स्थिति थी।

गृह्यसूत्रों तथा उपनिषदों का सन्देश भी अमर है। गृह्यसूत्रों के समय ऐसे नियमों का प्रतिपादन हो गया था, जिससे गृहस्थों का जीवन नियमबद्ध था। इस सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों के विशेष-विशेष तथा सामान्य नियम अवलोकनीय हैं। इसी प्रकार उपनिषदों के नियम न केवल भारतीय हैं, अपितु सार्वभौमिक हैं। विश्व के मानवता के सिद्धान्त उनमें निहित हैं। उनके अवलोकन से हमारा न केवल ऐहिक अपितु पारलौकिक जीवन सुखी हो सकता है। आज उपनिषदों की शिक्षा हमारे लिये नितान्त आवश्यक हैं। उपनिषदों में आख्यानों के माध्यम से सुखद उपदेश अथवा शिक्षा दी गई है। हम उदाहरण के लिये **कठोपनिषद्** को ले सकते हैं। **कठोपनिषद्** में नचिकेता का वृत्तान्त उपदेशपूर्ण है। इस सन्दर्भ में एक स्थल द्रष्टव्य है :

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः**
**तौ सम्परीत्यं विविनक्ति धीरः।**
**श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते**
**प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥**[५]

यहाँ दिखाया गया है कि नचिकेता को श्रेयस् का मार्ग प्राप्त होता है तथा प्रेयस् का भी, परन्तु वह प्रेयस् (भोग-मार्ग) को छोड़कर श्रेयस् (कल्याण) का मार्ग अपनाता है। इससे उपदेश मिलता है कि मनुष्य को तृष्णाओं को त्याग कर कल्याण एवं श्रेयस्कर मार्ग को अपनाना चाहिये।

वैदिक-साहित्य की भाँति वैदिकेतर अथवा लौकिक-साहित्य का नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वाल्मीकिकृत **रामायण** का सन्देश हर परिवार, घर, देश तथा राष्ट्र के लिये अनुकरणीय है। इसी प्रकार पुराणों में अनेक नैतिक तत्व यत्र-तत्र भरे हुये हैं। आज का हिन्दू-धर्म पुराणों से अत्यन्त प्रभावित है। हम देखते हैं कि पुराणों को आधार बनाकर वैष्णव, शैव आदि सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। देवों के सम्बन्ध से पुराणों का विभाजन किया गया है। इस प्रकार पुराणों के सात्त्विक, राजस तथा तामस तीन भेद हो जाते हैं। इन पुराणों में अनेक आख्यान तथा कथाएँ सङ्गृहीत हैं, जो उपदेशपूर्ण हैं। उन आख्यानों में नैतिकता का मधुर पुट है। पुराण वेदों से प्रभावित हैं और अनेक वैदिक कथनों का पुनः प्रतिपादन पौराणिक पुट के साथ हुआ है।[७]

संस्कृत-आख्यान-साहित्य नैतिक क्षेत्र में अपना अनोखा प्रभाव रखता है। आख्यान-साहित्य के नीति-कथा में स्थल-स्थल पर आदर्श एवं उपदेश की प्रवृत्ति दिखाई देती है। नीति-कथाओं का उद्देश्य कहानियों द्वारा ऐसी बातों का उपदेश देना है, जिससे धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी बातों का ज्ञान होता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि नीति-कथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति तथा व्यावहारिक ज्ञान है। ऐसे आख्यानों से मनुष्यों का जीवन सुखी तथा सफल हो सकता है। हम नीति-कथाओं में देखते है कि उनमें पशु, पक्षी आदि का वर्णन हुआ है। ये हमारे जीवन के अङ्ग हैं। उनके जीवन-वृत्तान्त से अनेक उपदेशपूर्ण बातों का ज्ञान प्राप्त होता है। नीति-कथाओं की भाँति लोक-कथाओं का वर्ण्य-विषय उपदेशपूर्ण तथा शिक्षाप्रद है। इनमें नीति एवं आचार सम्बन्धी जिन बातों का प्रतिपादन किया गया है, वे अन्य साहित्य में दुर्लभ हैं। पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, बृहत्कथा आदि के महत्त्व को सारा विश्व स्वीकार करता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के नीति-काव्य अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं। भर्तृहरि के नीतिशतक को कौन नहीं जानता। भर्तृहरि ने **नीतिशतक** में एक स्थल पर लिखा है :

**रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-**
**मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।**
**केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा**
**यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥**

यहाँ कहा गया है कि मनुष्य को अपनी दीनता का प्रख्यापन नहीं करना

चाहिये, अपितु उसे अपने कार्य अथवा बल पर भरोसा करना चाहिये । एसी शिक्षायें अमूल्य हैं । संस्कृत-साहित्य में सुभाषित-संग्रहों का नैतिक क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान है । हाल का **गाथाशप्तशती** विश्वविख्यात है । इस ग्रंथ के अतिरिक्त अन्य अनेक एतत्सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, जिनमें सुभाषितों का संग्रह है । सुभाषित ऐसी उक्तियाँ हैं, जो जीवन के मूल्यों का अवलोकन करती हैं ।

सत्य तो यह है कि संस्कृत-साहित्य अमूल्य निधियों का भाण्डार है । संस्कृत जीवन के अनेक पहलुओं पर प्रकाश डालती है । उपर्युक्त विवेचन नैतिक पक्ष को लेकर प्रस्तुत किया गया है । ऐसे ग्रन्थों के अवलोकन और मनन से हमारा ऐहिक जीवन सफल हो सकता है, अत एव संस्कृत हमारे जीवन का एक अङ्ग है । हमारा हित तथा अहित इसके अपनाने तथा त्यागने से हो सकता है ।

---

**सङ्केत-सन्दर्भ—**

१. तु० सर मोनियर विलियम्स, **ए संस्कृत** इंगलिश **डिक्शनरी** (दिल्ली,-१९७४),पृ० ५६५

२. **ऋग्वेद, १.२५.११** ३. **वही, ३.६१.१**

**"पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ।"**

४. सर मोनियर विलियम्स, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० २२३

**५. कठोपनिषद्**, १.२.२

६. डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, **ब्रह्मा इन द पुराणाज़** (गाज़ियाबाद, १९८१), पृ० १ तथा आगे ।

७. तु० डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य, **पुराणागत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन** (प्रयाग, १९६५)

—५—

## काव्यस्वरूप-निरूपण

'काव्य' क्या है, इस विषय में चिन्तन अति प्राचीन काल से होता आया है। एक समय ऐसा था, जब काव्य किसी विशेष प्रयोजन से नहीं होता था, अपितु किसी अन्य प्रयोजन के समय काव्य करने की उत्कण्ठा उत्पन्न हो गई थी। वह ऋग्वैदिक काल था, जब कवि स्तुति के स्तर से उतर कर काव्य करने लगा था। इस की झलक **ऋग्वेद** के अनेक सूक्तों में मिलती है।

नियमतः काव्य-स्वरूप निरूपण वैदिकेतर युग की देन है। इस समय किन-किन तत्त्वों के आधार पर काव्य के स्वरूप का निरूपण हुआ, कौन-कौन 'वाद' सामने आए, उनमें क्या त्रुटियाँ थीं, कौन सा 'वाद' सर्वप्रिय अथवा मान्य रहा, उसकी क्या विशेषता है, उसके आज के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा, क्या आज काव्य किसी अन्य तत्त्व के आधार पर विस्तार की अपेक्षा रखता है, इत्यादि सभी बातें विचारणीय हैं।

यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि 'कवि-कर्म' काव्य है, परन्तु सभी कवि-कर्म को काव्य नहीं कहा जा सकता है। काव्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह कवि-प्रतिभा-जन्य हो। साधारण कवि-कर्म, काव्य नहीं कहा जा सकता है, अत एव काव्य कवि-कर्म, कवित्व के आधार, कवि की सृष्टि, कवि की प्रेरणा-शक्ति, कला में व्यक्तित्व, कवि की कोटियाँ इत्यादि से सम्यक् प्रकार से सम्बद्ध है।[1] इसके अतिरिक्त काव्य के हेतु, काव्य के प्रयोजन आदि का भी काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन सब तत्त्वों के आधार पर, जो कवि-कर्म होता है, वही काव्य कहा जा सकता है, परन्तु इन सब तत्त्वों का समावेश एकत्र कवि-प्रतिभा के आधार पर ही हो सकता है। इस प्रकार की प्रतिभा महाकवियों में ही देखी जा सकती है, जिसका संकेत आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि की स्थापना करते समय किया है।[2] इस प्रकार ध्वनिकार ने सर्वप्रथम प्रतिभा महाकवियों में स्वीकार कर यह सिद्ध किया कि महाकवियों का कवि-कर्म ही काव्य है।

ध्वनिकार के पूर्व अनेक 'वाद' स्थापित हो गये थे, जिनकी अपनी-अपनी सीमित मान्यताएँ थीं। सीमित से तात्पर्य यह है कि किसी वाद में भी काव्य का पूर्ण

---

१. तु० बलदेव उपाध्याय, **संस्कृत आलोचना** (प्रकाशन ब्युरो, लखनऊ, १९५७), पृ० १२-९

२. **ध्वन्यालो०** १.४

लक्षण नहीं घटता था। फलतः अलङ्कार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय वक्रोक्तिसिद्धान्त, औचित्य सिद्धान्त, ध्वनिसम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय सम्मुख आये। इनमें सम्प्रदाय को छोड़कर काव्य-लक्षण करने की जो प्रथा थी, वह काव्य-विशेष को लेकर थी। रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि को लेकर वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन प्रभृति आचार्यों ने रीतिकाव्य, वक्रोक्तिकाव्य, ध्वनिकाव्य आदि के लक्षण अपने-अपने ग्रंथों में प्रतिपादित किये। इन्होंने काव्य का कोई सामान्य-लक्षण[1] नहीं किया, जो सर्वमान्य हो। इस का परिणाम यह हुआ कि विशेष-लक्षण का खण्डन हो जाने पर उसके आधार पर निर्मित काव्य-विशेष खटाई में पड़ जाता था।

भामह तथा दण्डी ने 'शब्दार्थ' में काव्य माना है और काव्य के कला-पक्ष पर बल दिया है। आगे चलकर वामन ने रीति का आश्रय लिया और विशिष्ट-पद-रचना को रीति माना।[2] इन्होंने अलङ्कारों के स्थान पर सौन्दर्य को महत्त्व दिया और सामान्य-रचना के स्थान पर विशिष्ट-पद-रचना में काव्य माना। कुन्तक ने इन दोनों आचार्यों के मतों के आधार पर काव्य के जीवित-रूप में वक्रोक्ति की कल्पना की।[3] एक सम्प्रदाय इसके आधार पर चल पड़ा। काव्य का काव्यत्व उसके आश्रित है, उसकी अनिवार्यता काव्य के सभी रूपों में है, इस प्रकार वक्रोक्ति मौलिक तत्त्व से सर्वव्यापक बनी। सौन्दर्य की मानसिक अनुभूति होती है, इस पर आचार्यों का ध्यान नहीं गया और कवि की कलात्मकता का स्पष्टीकरण भी अभी तक नहीं हो पाया था। कवि के कृति का महत्त्व कुन्तक ने कला के रूप में प्रमाणित किया। वक्रोक्ति का प्रयोग साहित्य में चिर-काल से अनेक अर्थों में हो रहा था, परन्तु कुन्तक ने इसे काव्य के जीवित-रूप में प्रतिपादित किया।

तदनन्तर काव्य के आत्मा का अन्वेषण होने लगा और ध्वनि-सिद्धान्त सामने आया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस का प्रतिपादन ध्वनि-सिद्धान्त वहाँ करता है, जहाँ रस वाच्य नहीं होता, अपितु ध्वनित होता है, अत एव ध्वनि-सिद्धान्त में शब्दों और वाक्यों की अपरिहार्यता स्वीकार कर यह बताया गया है कि जहाँ सुन्दर व्यंग्यार्थ हो, वही श्रेष्ठ काव्य है।[4] इस प्रकार ध्वजिसिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट गुण, विशिष्ट रचना-पद्धति तथा रमणीय व्यङ्ग से युक्त शब्द तथा वाक्य

१. 'विशेष **एकदेशवर्ती** होता है, सामान्य **बहुदेशव्यापी**'

२. **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति**, १.१.२

३. **वक्रो०** १.४२

"**काव्यजीवितमिति काव्यस्यानुमापकम्।**
**तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः।**
**यदाह—विचित्रो यत्र वक्रोक्तिः वैचित्र्यं जीवितायवे-इति।**"

४. **ध्वन्या० पृ० २२५-२६**

काव्य हैं ।[1] इस काव्य के व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य पाँच रूप हैं ।

निःसन्देह-रूप से यह ध्वनिसिद्धान्त अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है, परन्तु इस सिद्धान्त में कतिपय दोष थे, जिनसे यह सर्वमान्य नहीं बन सका । ये दोष महिमभट्ट के अनुसार १० हैं :

(१) अर्थ का विश्लेषण, (२) शब्द, (३) शब्द का विश्लेषण, (४) तत् शब्द का पुल्लिग में प्रयोग, (५) व्यङ्ग का प्रयोग, (६) वा शब्द, (७) व्यंग में अन्तर्हित, (८) ध्वनि यह संज्ञा, (९) काव्य-विशेष में काव्य का वैशिष्ठ्य और (१०) कथन-क्रिया के कर्त्ता का शब्दतः कथन—ध्वनि-लक्षण में ये दश दोष आते हैं ।[2]

व्यक्तिविवेककार ने सर्वप्रथम एक ऐसी प्रथा चलाई कि पहले काव्य का सामान्य लक्षण किया जाना चाहिए, तत्पश्चात् विशेष का, क्योंकि सामान्य में ही विशेष का लक्षण आ जाता है । यदि कहीं नहीं आता है, तब उसका विशेष लक्षण किया जाना चाहिए । उन्होंने स्वयं काव्य का विशेष और सामान्य लक्षण किया है । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों की समीक्षा की और निर्दुष्ट काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया । उनकी इस प्रणाली का समर्थन परवर्ती आचार्यों ने किया और सोच-विचार कर काव्य-लक्षण करने लगे । आचार्य विश्वनाथ और पण्डित जगन्नाथ ने ऐसा ही किया। महिमभट्ट ने कवि-व्यापार को ही सामान्य रूप से काव्य कहा है और उस में विभावादि संयोजनात्मा और रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारि दो विशेषण और जोड़कर काव्य-लक्षण में शब्दतः उपादान होना परमावश्यक माना है ।

महिमभट्ट की इस समीक्षा-प्रणाली का प्रभाव आचार्य मम्मट पर पड़े विना नहीं रहा, अत एव आचार्य मम्मट ने बहुत सोच-विचार कर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मान्य सिद्धान्तों के आधार पर **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि,**[3] अपने काव्य का लक्षण प्रस्थापित किया । आचार्य मम्मट ने शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य माना है, परन्तु दोनों में दोषाभाव भी स्वीकार किया है । उनमें गुण भी होने चाहिए । कहीं अलङ्कार भी हो सकता है और कहीं नहीं भी हो सकता है । मम्मट के काव्य-स्वरूप-निर्धारण में व्यक्तिविवेक, सरस्वतीकण्ठाभरण[4] तथा ध्वन्यालोक[5] का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है । काव्य-प्रकाश में वामन, रुद्रट, कुन्तक, भामह, दण्डी आदि की मान्यताओं का आदर किया गया है और एक सर्वाङ्गपूर्ण काव्य का स्वरूप

---

१. **लोचन**, पृ० ३२

२. **व्यक्तिवि०** १.२३-४

३. **का० प्र०** १.४

४. **सरस्व० क०** १.२

५. **ध्वन्या०** १.१३

निश्चित कर रससम्प्रदाय को दृढ़ बनाया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने मम्मट के काव्य-लक्षण का खण्डन कर **'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'** अपने काव्ल-लक्षण की स्थापना की।

## शब्द-शक्ति और वृत्ति

मम्मट ने काव्य का प्रयोजन रसानुभूति माना है। यह रसानुभूति सामाजिकगत है। लोक में कारण, कार्य तथा सहकारी कारण कहे जाने वाले तत्त्व श्रव्य तथा दृश्य काव्य में प्रयुक्त होने पर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहे जाते हैं। रसानुभूति यद्यपि सामाजिकगत होती है तथापि काव्य उसका बोधक है। यह काव्य शब्द तथा कार्य के द्वारा उसकी प्रतीति कराता है। एतदर्थ काव्य की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना तीन शक्तियाँ मानी गई हैं। व्यञ्जना व्यापार द्वारा काव्य व्यङ्ग्य रस की अनुभूति करता है। आचार्य मम्मट ने अभिधा, लक्षणा के छः भेद तथा व्यञ्जना के शाब्दी तथा आर्थी व्यञ्जना दो भेद किये हैं। प्रकारान्तर से शब्दी के अभिधामूला तथा लक्षणामूला दो भेद हैं तथा आर्थी व्यञ्जना के दश भेद किए हैं। परवर्ती काव्यकारों पर इन भेदों तथा प्रभेदों का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या इन भेदों से वृत्तियों का तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है? भरत ने अपने **नाट्यशास्त्र** में सामान्यतः **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**[१] का प्रयोग नाट्य में रस की निष्पत्ति को लेकर ही किया था, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस सिद्धान्त को लेकर इसे श्रव्य काव्य के रस से सम्बद्ध कर शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों को स्वीकार किया। भरत काव्यशास्त्र के आदि प्रणेता हैं। उन्होंने कहीं भी इन शक्तियों का नामकरण नहीं किया है। **नाट्यशास्त्र** में वृत्ति का प्रयोग मिलता है।[२] वृत्ति की निष्पत्ति वृत् धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा होती है। वृत्ति का सामान्य अर्थ व्यापार होता है, अर्थात् नाट्य जिस रूप में उपस्थित हो, उसकी उस रूप, ढङ्ग अथवा प्रकृति को वृत्ति कहते हैं, परन्तु वृत्ति की परिभाषा विभिन्न साहित्यों में विभिन्न प्रकार से की गई है। दार्शनिक ग्रन्थों में इसे व्यापार की संज्ञा दी गई है। अलङ्कार-साहित्य में वृत्ति से शब्द-शक्ति का तात्पर्य है और उसके अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्या चार भेद हैं। भरत ने भारती, कैशिकी, आरभटी और सात्त्वती चार वृत्तियाँ मानी हैं। नाट्य के विभिन्न तत्त्व होते हैं, उनका विभिन्न अङ्गों और उपाङ्गों से निर्माण होता है, अत एव जो रचना-शैली अथवा रचना-विधि है, उसको भी वृत्ति कहते हैं:

**नाट्य-प्रकृतिर्हि वृत्तिः**

भारती शाब्दी वृत्ति है, वह पाठ्य-प्रधान वृत्ति है। वृत्तियों के लक्षणों के

१. ना० शा० १.१७

२. वही, १८.४

आधार पर भारती को अभिधा तथा शेष तीनों को लक्षणा तथा व्यञ्जना में समाश्रित कर सकते हैं। व्यञ्जना जिस प्रकार व्यङ्ग्य रस की प्रतीति कराती है, तद्वत् सात्त्वती वृत्ति का व्यापार सत्त्व से अभिभूत होकर होता है। दूसरे के हृदय में स्थित दुःख और हर्ष की भावना में प्रायः हृदय का उसी प्रकार की भावना वाला हो जाना 'सत्त्व' है :[1]

"**परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम्** ।"

इन वृत्तियों अथवा शक्तियों (व्यापारों) से कला, कलाकार तथा कृति का गहरा सम्बन्ध है। कलाकार की कला का चरम लक्ष्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। इस सौन्दर्य का आध्यात्मिक विवेचन भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने किया। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने सौन्दर्य-साधना को ब्रह्म-साधना की सहोदरा स्वीकार किया है। काव्य में सत्यम्, शिवम् तथा सुन्दरम् की साधना की ओर सङ्केत करते हैं। कल्पना जीवात्मा का एक मुख्य गुण है। उस कल्पना के ऐन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दो भाग हैं। प्रथम से बाह्य वस्तु का मूर्तिमान् संस्कार होता है तथा दूसरे के द्वारा अलौकिक प्रेम से जीवात्मा सत्यरूपों का दर्शन करता है। सच्चा कलाकार किन्हीं बाह्य पदार्थों का अनुकरण नहीं करता, वह आत्म-निहित अलौकिक प्रतिभाओं को मूर्तिमान् करता है, अत एव वह भी एक साधक है। सौन्दर्य एक प्रकाश के समान है, जिसको साधक कवि अपनी आत्मा में स्फुरित होता हुआ निहारता है, अत एव एक सच्चे साधक और सत्काव्य का मूल्य निम्नलिखत शब्दों से लगाया जा सकता है :

"इस तरह कला कृति के दो रूप हैं—एक शारीरिक तथा दूसरा आत्मिक (spiritual)। आत्मिक सौन्दर्य का साक्षात्कार चर्मचक्षु से नहीं, अपितु अन्तर्दृष्टि से संभव है। इसके लिए भावक में इन सभी बन्धनों से मुक्त होकर तथा सभी व्यापारों अथवा दुःख-सुख की साधारण इच्छाओं से परे एक निष्काम मनःस्थिति अभीष्ट होती है। इस तरह कलात्मक साधना में भी आत्मा धीरे-धीरे संसारिक अनुभवों से ऊपर उठती हुई बुद्धि, कल्पना, स्मृति आदि के स्तरों से अग्रसर होकर अन्त में ऐसे स्तर पर पहुँचती है, जहाँ इसका शुद्ध रूप निखरता है और यही शुद्ध रूप ही काव्यात्मा के साक्षात्कार का कारण है। यह साक्षात्कार आत्मस्वरूप की पहचान भी है और काव्य में निहित आत्मा का अनुभव भी। इस साक्षात्कार में आत्मा के सभी मल धुल जाते हैं और एक विशिष्ट प्रकार के आनन्द का उद्रेक होता है, जो भारतीय काव्यशास्त्रियों के शब्दों में 'रसनिष्पत्ति' अथवा 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा जाता है, जिसका न तो वर्णन ही सम्भव है और न किसी अन्य वस्तु से उसकी समता ही हो सकती है।"[2]

---

१. **दशरू०** ४.४ धनिक वृत्ति।

२. डॉ० विक्रमादित्य राय, **काव्य समीक्षा** (वाराणसी, १९६७), पृ० १२२-२३

—६—

# भारतीया वैदिकी पूजा-पद्धति

आज भारत के विभिन्न धर्मों में पूजा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। कुछ धर्मों में प्राचीन काल से पूजा की एक ही विधि चली आ रही है,[१] परन्तु कुछ धर्मों में पूजा की पद्धतियों में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा है। आज वर्तमान हिन्दू-धर्म में जिन पूजा-पद्धतियों का प्रचलन है, प्राचीन काल में उसी प्रकार की पूजा-पद्धतियों की प्रथा नहीं थी। तथ्य यह है कि प्राचीन आर्यों की पूजा-विधियों का कुछ और स्वरूप था। यहाँ आर्यों की पूजा-विधियों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

सामान्यतः स्वीकृत है कि आर्यों का धर्म प्रकृति के प्राङ्गण में प्रादुर्भूत हुआ तथा उस धर्म पर प्रकृति का प्रभाव है। आर्यों के धर्म का स्रोत ऋग्वेद है। इस वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें प्रकृति की अनेकशः पूजा है तथा इस प्रकृति की पूजा से आर्यों की पूजा का प्रकटीकरण हुआ है। इस पूजा-पद्धति के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि आर्य अपने इष्ट देवी की साकार पूजा के अभिलाषी थे। फलतः उन्होंने अपने-अपने इष्ट देवों को प्रकृति के विभिन्न रूपों का आकार प्रदान किया।[२] इस प्रस्थापना की पुष्टि सूर्य, पृथिवी, पर्जन्य, अग्नि आदि के द्वारा की जा सकती है। वैदिक आर्यों के लिए सूर्य केवल एक जलता हुआ आग का गोला ही नहीं है, अपितु सजीव है। उसमें अद्वितीय शक्ति है तथा वह उस शक्ति से संसार का भरण-पोषण करता है। आर्यों ने उसकी अद्वितीयताओं से प्रभावित होकर उसकी पूजा की। सामान्यतः उसकी इस पूजा में साकार-पूजा की भावना स्पष्ट हो रही है, क्योंकि उनके सामने सूर्य का एक बाह्य रूप है, जो स्थूल है। उस स्थूलता में कुछ सीमा तक मूर्तिकरण की प्रक्रिया अभिलक्षित होती है, परन्तु वह मूर्तिकरण-प्रक्रिया पूर्ण नहीं है, क्योंकि उसका जन्म, पल्लवन एवं विकास पौराणिक युग में हुआ है। यह सब होते हुए भी वैदिक प्राकृतिक कुछ स्थूल पदार्थों में मूर्तिकरण इस बात में है कि आर्यों के मन में

---

१. उदाहरण के लिए इस्लाम धर्म को प्रस्तुत किया जा सकता है।

२. विशेष एवं विस्तृत ज्ञान के लिए द्र० श्रीमती उषा चौहान, **अथर्ववेद में प्रकृति का स्वरूप'** शोध-प्रबन्ध-निर्देशक डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, एम०एम०एच० कालिज, गाज़ियाबाद; मेरठ विश्वविद्यालय, भारत; तु० डॉ०मुहम्मद इसराइल खाँ, 'ऋग्वेद- भाष्य-पद्धति' **'न्यूज़ एण्ड व्यूज़'** मेरठ वि० वि० मेरठ; श्रीअरविन्द **ऑन द वेद,** (पाण्डिचेरी)

प्रकृतिभूत तत्तद् देवों में हाथ, पैर, नाक, कान, बाहु आदि की कल्पनाओं का समावेश है। इन कल्पनाओं के समावेश से ज्ञात होता है कि मूर्तिकरण के प्रति उनकी भावना जागृत हो रही थी।[१] उस भावना के साथ वे देवों की भाँति-भाँति से पूजा एवं स्तुति करते थे। इस मूर्तिकरण के विषय को लेकर कुछ विद्वानों में मत-भेद है। एक वैदिक सन्दर्भ को लेकर एक वधू को यह शिक्षा दी गई है कि वह अपने श्वसुरालय में सास एवं श्वसुर के प्रति आदर-भाव को प्रदर्शित करती हुई तथा दाम्पत्य-जीवन को सुखी बनाती हुई नित्य प्रातः काल देवों की पूजा करे तथा उन्हें माल्यार्पण करे।[२] माल्यार्पण के प्रसङ्ग से कुछ विद्वानों ने यह आशय ग्रहण किया है कि वैदिक काल में मूर्ति-पूजा की प्रथा थी, अन्यथा वह वधू किस प्रकार माल्यार्पण के द्वारा देवता को विभूषित करती। चाहे जो भी हो, इस सन्दर्भ से मूर्ति-पूजा पर प्रकाश नहीं पड़ता है। इस प्रकार के सन्दर्भ **ऋग्वेद** तथा अन्य वेदों में नहीं के बराबर हैं। यहाँ सामान्यतः माल्यार्पण देवता के सामान्य स्वरूप को अभिलक्षित करके कहा गया है तथा उसके किसी विशेष स्वरूप को ध्यान में रखकर नहीं कहा गया है।

वेदों में देवो की साकार-पूजा के साथ-साथ निराकार पूजा की भावना भी दृष्टिगोचर होती है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों का वचन ध्यान देने योग्य है। उन का कथन है कि देवों के साकार तथा निराकार दो रूप हैं। वे अपने साकार रूप से बाह्य जगत् में निवास करते हैं तथा अपने सूक्ष्म रूप से मानव-शरीर में स्थित रहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि का अपना एक बाह्य रूप है, परन्तु वे अपने सूक्ष्म-रूप से मानव के नेत्र, मन आदि में वास करते है।[३] आर्यों को इस बात का पूर्ण ज्ञान था, क्योंकि अनेक ऋचाओं से इस की पुष्टि होती है।

वेदों में अनेक देव हैं तथा उनकी अनेक कोटियाँ हैं। कुछ स्थूल देवों की ओर ऊपर सङ्केत किया गया है। इस के अतिरिक्त कुछ सूक्ष्म तथा भावात्मक देवों तथा

---

१. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, **सरस्वती इन संस्कृत लिटिरेचर**, (गाज़ियाबाद, १९७८), पृ० २८-३३

२. वही, पृ० ९१-९३

३. ऐ० उ० १.२.४

**"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णे प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्"**

देवियों की कल्पनाएँ भी वेदों में उपलब्ध होती हैं। इस सन्दर्भ में धी :[१] धिष्णा[२] आदि को प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि देवों के स्थूल-जगत् के साथ-साथ भावात्मक जगत् से भी परिचित थे। इन की अर्चना एवं साधना बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखती हैं। इन के प्रति की गई श्रद्धा को मानसिकी पूजा की अपेक्षा होती है।

वैदिक पूजा कर्मकाण्ड तथा यज्ञ-प्रधान मानी गई है। इस विषय में वेदों के महान् व्याख्याता आचार्य सायण के मत को प्रस्तुत किया जा सकता है। उनका कथन है कि वेद के सम्पूर्ण मंत्रों का विनियोग यज्ञ में है, अर्थात् वेदों के मंत्र यज्ञों को लक्ष्य में रख कर कहे गये हैं तथा यज्ञों से हट कर उन की कोई उपयोगिता नहीं है। यही कारण है कि आर्यों की वैदिक ऋचाओं में अटूट श्रद्धा रही है और वे उनका यज्ञों में विनियोग करते रहे हैं। ऋचा का यह अर्थ ही है कि ऋचाएँ वे हैं, जो स्तुति की साधनी हैं।[३] वैदिक पूजा में सदैव इन का उपयोग यथावत् होता रहा हैं। ये ऋचाएँ वैदिक आर्यों की विभिन्न कामनाओं को लेकर यज्ञ के सन्दर्भ में पढ़ी गई हैं और आज भी यज्ञों के सन्दर्भ में उनका पठन एवं पाठन होता है। इस प्रणाली के कारण उनमें कोई विकार एवं परिवर्तन नहीं हो सका है तथा वे अति प्राचीन काल से उसी रूप में चली आ रही हैं। यज्ञों तथा कर्मकाण्डों के अवसर पर इन ऋचाओं का समुचित प्रयोग होना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह विधान है कि यदि ऋचाओं का उच्चारण एवं पठन-पाठन ठीक ढंग से नहीं हुआ, तो वे लाभ के बजाय हानि पहुँचा सकती हैं।

वेदों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि वैदिक धर्म वहुदेववाद है,[४] परन्तु मुख्य रूपेण देव तीन ही हैं। वे अग्नि, वायु अथवा इन्द्र तथा सूर्य हैं।[५] इनके अतिरिक्त

---

१. तु० ए० बी० कीथ, **रिलीजन एण्ड फिलासोफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्**, भाग २ (दिल्ली), पृ० ४४८

२. द्र० धिष्णा **वही**, भाग १, पृ० २११

३. द्र० श्री छज्जूराम शास्त्री, **निरुक्त** (मेहरचन्द लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९१३), पृ० २६, **ऋक् अर्चनी** ऋक् का अर्थ है **'अर्चनी'**। **अर्च्यतेऽनया सा अर्चनी—स्तुति का साधन।"**

४. द्र० राडाल्फ केंगी, **द ऋग्वेद** (अमर को, बुक एजेन्सी, दिल्ली, १९७२), पृ० ३३

And since there are many phenomena, and hence many gods, we are at first impelled to designate the Vedic religion as polytheism, it is not, however, polytheism in the usual sense, but it presents to us throughout a stage of religious thought, which elsewhere hardly observed in India developed partly into monotheistic, partly into polytheistic conceptions,......"

५. द्र० **निरुक्त**, ७.२ **"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवीस्थानः वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"**

अन्य जो भी देव हैं, वे भक्ति एवं साहचर्य से इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।[१] ओषधि, अश्वादि भी देव-स्वरूप हैं तथा वे सभी एक ही देवाधिदेव की विभूति हैं। देवों की भिन्नता वस्तुतः व्यावहारिक दशा में प्रतीत होती है, क्योंकि उस दशा में याज्ञिक लोग कामना-विशेष को लेकर तत्तत् देवता के निमित्त यज्ञ-याग करते हैं। प्रत्यक्षतः भिन्नता होते हुए भी इन देवों में एकता है, अर्थात् सभी देवता एक हैं तथा एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इनकी इस एकता को नरराष्ट्रमिव समझना चाहिए। जैसे राष्ट्रत्वेन सब रंग-रूप वाले और सब जाति वाले मनुष्य एक हैं और वैसे मनुष्य-मनुष्य करके भिन्न हैं, इसी प्रकार यहाँ भी ब्रह्मराष्ट्र की दृष्टि से सब देव एक हैं—एक ही परमात्मदेव की सब विभूति हैं, परन्तु उसी देव के सूर्यादि भिन्न-भिन्न अंश को लेकर भिन्न-भिन्न देव की कल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार ये तीन बातें—एकत्ववाद, बहुत्वाद और त्रित्ववाद-सब ही अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक हैं और इसी से वास्तव में सब में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है।"[२] कहा जाता है कि भारतीय सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता भिन्नता में एकता है। इस की पुष्टि ऊपर के निरीक्षण से सर्वथा सिद्ध हो जाती है। वैदिक आर्यों की अर्चनाओं तथा पूजा-पद्धतियों में यह विचार-धारा ओत-प्रोत पाई जाती है।

वैदिकी पूजाओं तथा अर्चनाओं में मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण समाहित हैं। वे दो दृष्टिकोण समष्टि तथा व्यष्टि के हैं। जब हम ऋषियों की अर्चनाओं पर ध्यान देते हैं, तब देखते हैं कि उनकी अर्चनाएँ समष्टि कोटि में आती हैं। जब ऋषि प्रार्थना करता है, तब ऐसा ज्ञात होता है कि उस की प्रार्थना में उसकी कोई विशेष कामना निहित नहीं है। वह वस्तुतः अपने लिए कुछ नहीं चाहता। उसकी अपनी प्रतीत होती हुई भी प्रार्थना समाज एवं राष्ट्र के लिए होती है। ऋषियों से भिन्न अन्य लोगों की प्रार्थनाएँ कभी तो व्यष्टि कोटि की होती हैं तथा कभी समष्टि कोटि की होती हैं।

आज भारत में शैव[३], वैष्णव,[४] जैन आदि अनेक धर्म प्रचलित हैं। उनमें पारिस-

---

१. वही ७.३
"तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्। तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः ........"

२. श्री छज्जूराम शास्त्री, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३९
"तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव"—व्याख्या "तत्र तस्मिन्सन्देहे सति, एतत् नरराष्ट्रमिव। यथा राष्ट्रमित्यभेदः। नरा इति भेदः। एवं पृथिव्यग्निरित्यभेदः। जातवेदा वैश्वानर इति भेदः। स्वमेते सूक्तप्रामाण्येन त्रित्वमेवेति बोध्यम्।"

३. शैव धर्म के लिए द्र० तामस पुराण; इस धर्म का जन्म वैदिक काल में भी हो गया था, क्योंकि इसके प्रवर्तक शिव रुद्र के रूप से वेदों में अनेकशः वर्णित हैं।

४. वैष्णव धर्म के लिए द्र० सात्त्विक पुराण। पुराणों में इस धर्म के प्रवंतक विष्णु माने गये हैं। विष्णु एक ऐसे देव हैं, जिन का वर्णन वेदों तथा पुराणों इत्यादि में बहुशः हुआ हैं। कल्पना में भिन्नताएँ पाई जाती हैं।

परिक मौलिक भिन्नताएँ हैं, परन्तु वैदिक आर्यों की पूजा-पद्धतियों में कोई भी मौलिक भेद नहीं है। वैदिक आर्य एक देव की पूजा करके दूसरे देव के प्रति उदासीन नहीं रहता है। वह प्रधान अथवा गौण देवों के प्रति समभाव का वर्ताव करता है। यही कारण है कि जब वह सूर्य की पूजा करता है, तब उस की आराधना में इतना लीन हो जाता है कि वह सूर्य के सामने थोड़ी देर के लिए अन्य देवों को नगण्य या तुच्छ समझता है। इस प्रकार की भावना उस की स्तुतियों से स्वतः झलक रही है। इसके बाद ज्यों ही वह उस देवता से हट कर अन्य देवता की स्तुति कर आता है, तब उसे भी वह महान् एवं सर्वशक्तिशाली समझता है, चाहे वह देवता कितना ही गौण क्यों न हो। यही क्रम आगे चलता है। मैक्स मूलर ने इस परम्परा को देख कर इस में 'हीनोथीज़्म की कल्पना की है,'[1] परन्तु इसमें एकत्ववाद, बहुत्ववाद तथा त्रित्ववाद की कल्पनाओं का मिश्रण है। इसके अतिरिक्त इसमें भारतीय धर्म के अनेक रहस्यों का पुट है। भारतीय आर्यों के प्रति यह आक्षेप लगाया जाता है कि वे वनचर थे। उनकी सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हुआ था तथा उनका मानसिक स्तर अत्यन्त उठा हुआ नहीं था, परन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक है। **ऋग्वेद** आर्यों का आदि धार्मिक ग्रंथ है। इसमें अनेक ऐसे सूक्त हैं, जो दार्शनिक दृष्टिकोण से अत्यन्त उच्च कोटि के सन्देश को वहन करने वाले हैं।[2] वस्तुतः वेद में अनेक प्रकार की स्तुतियाँ हैं। इन स्तुतियों को मुख्यतः लौकिक तथा पारलौकिक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पुनः लौकिक स्तुतियों की अनेक कोटियाँ हैं, जो मनुष्य के ऐहिक सुख, समृद्धि आदि से सम्बद्ध हैं।। किसी समाज का आदर उसकी लौकिक सिद्धियों से कुछ सीमा तक होता है, परन्तु यदि समाज लौकिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में समुन्नत है, तो फिर उसके मान की सीमा बढ़ जाती है। आर्यों ने इन दोनों क्षेत्रों में समुन्नति प्राप्त कर ली थी। लौकिक क्षेत्र में उनकी अर्चनाएँ तथा पूजाएँ यज्ञों में एवं यागों के माध्यम से प्रकट हुईं तथा वही आध्यात्मिक क्षेत्र में मानसिक भावनाओं के माध्यम से प्रकट हुईं। **ऋग्वेद** के आध्यात्मिक सूक्त उसके साक्षात् प्रमाण हैं।

पूजा अथवा अर्चना की इन पद्धतियों के अतिरिक्त **ऋग्वेद** में एक अन्य पद्धति के भी प्रचलन का प्रमाण प्राप्त होता है। वह यह कि आर्य पृथक्-पृथक् रूप से अनेक देवों की पूजा करते थे; यदि वे सब देवों की एक साथ पूजा अथवा अर्चना करना चाहें, तब उनके लिए निर्देश है कि वे केवल 'विश्वेदेवा' की पूजा अथवा स्तुति कर लें। इससे सभी देवों की स्तुति अथवा पूजा एक साथ ही हो जाती है। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में भारतीया वैदिकी पूजा पर प्रकाश डाला गया है।

१. द्र० राडाल्क केंगी, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ३३
"And since there are many phenomena, and hence, many gods, we are at first impelled to designate the Vedic religion as polythesim..... and which Max Muller has proposed to designate by the name Henotheism or Kathenotheism a belief in single god, each in turn standing out at the hight."

२. द्र० डॉ० गणेशदत्त शर्मा, **ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व** (गाज़ियावाद)

—७—

# पौराणिक संस्कृति

पौराणिक संस्कृति को समझने के पहले भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को समझना आवश्यक है। साथ ही साथ इसके अजस्र सोत का ज्ञान भी आवश्यक है। भारतीय आर्यों की संस्कृति के मूल आधार वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ माने जाते हैं। वे आर्यों के सर्वप्रथम लिखित प्रामाणिक ग्रंथ हैं। **ऋग्वेद** उन में प्राचीनतम है तथा संसार के सभी वर्ग तथा वर्ण उस की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। भारतीया संस्कृति तथा सभ्यता का भव्य एवं विशाल भवन श्रुति पर प्रतिष्ठित है। श्रुति का अर्थ वेद है। वेद को श्रुति इस लिए कहा गया है, क्योंकि वे ऋषियों से सुने गये हैं, न कि उन के द्वारा रचे गये हैं। वेदों का अत्यधिक महत्त्व धार्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वों के आधर पर तो है ही, लेकिन अन्य लौकिक विषयों का भी उन में समावेश है। भारतीया संस्कृति तथा सभ्यता वेदों से ही पल्लवित, पुष्पित तथा फलित हुई हैं। भारतीया संस्कृति का अर्थ ही वैदिक संस्कृति है।[१]

जब हम संस्कृति तथा सभ्यता का नाम लेते हैं, तव स्वभावतः हमारे मन में यह विचार उठता है कि संस्कृति तथा सभ्यता के क्या अर्थ हैं? विद्वानों ने इसके विभिन्न अर्थ किए हैं।[२] वस्तुतः भिन्न-भिन्न धर्मों की संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं, परन्तु यहाँ हम वर्तमान हिन्दू धर्म की प्रचलित संस्कृति को मन में लेकर प्राचीन वैदिक आर्यों की संस्कृति का अत्यन्त संक्षिप्त विश्लेषण करना चाहते हैं। संस्कृति का सामान्य अर्थ 'समस्त सीखा हुआ व्यवहार होता है' और इसके प्रमुखतः दो भेद हैं : (१) वैयक्तिक संस्कृति तथा (२) जातीय संस्कृति। वैयक्तिक संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्ति आदि से होता है। इन का सम्बन्ध मनुष्य के गुणों से होता है तथा यह सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से जुड़ा होता है। वे गुण स्वयं मूल्यवान् होते हैं अथवा मूल्यों के उत्पादन के साधन होते हैं।[३] जातीय संस्कृति जातीय चेतना है, जिसमें व्यक्ति अपने भौतिक अस्तित्व को भुलाकर आत्म की सृष्टि करता है, जिस के अस्तित्व के लिए भौतिक शरीर की आवश्यकता नहीं

---

१. पं० श्री दा० सातवलेकर, **भारतीय-संस्कृति**, प्राक्कथन भाग १, पृ० ७

२. तु० डॉ० देवराज, **भारतीय संस्कृति**, (उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६६)

"...इस पुस्तक में भारतीय संस्कृति की जो व्याख्या दी गई है, वह बहुत-बहुत दूर तक प्रचलित व्याख्याओं से भिन्न और नई है, विशेषतः उस व्याख्या में निहित गौरव लेखक का अपना है।"

३. **वही**, पृ० २०-२१

होती। इसी जातीय चेतना के अन्तर्गत धर्म, दर्शन, काव्य-शास्त्रादि का समावेश होता है।[१] भारतीय संस्कृति का अभिप्राय इसी जातीय संस्कृति से हैं, परन्तु जब हम धर्म, दर्शन, काव्य-शास्त्रादि सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़ते हैं, तब कभी-कभी उन के प्रतिपाद्य विषय से हट कर उन के प्रतिपादकों पर भी विचार करने लगते हैं। उस समय वैयक्तिक संस्कृति हमारे सामने आ जाती है। अब हम आगे इन दोनों के विस्तार में न जा कर संक्षेप में कहेंगे कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों का समावेश है। इस भारतीय संस्कृति के स्रोत वेद हैं। सभी वेद **ऋग्वेद** से प्रभावित हैं, अत एव भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम स्रोत **ऋग्वेद** है, जिस से भारतीय संस्कृति परम्परा-रूप में भिन्न-भिन्न कालों में परिवर्धित एवं परिष्कृत हो कर इस समय भी सतत् प्रवाहित है। हम ने अभी कहा है कि भारतीय संस्कृति का अर्थ वैदिक संस्कृति है, अत एव भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत विस्तारतः वेदादि स्वरूप-निरूपण, आधिभौतिक तत्त्व, आत्म-तत्त्व, धर्म, संस्कार, विज्ञान, शिल्प, भक्ति, उपासना आदि तत्त्वों का अध्ययन करते हैं।[२] **ऋग्वेद** इन तत्त्वों का मूल स्रोत है।

लोगों ने सभ्यता का अर्थ भिन्न-भिन्न किया है। कुछ लोग सभ्यता तथा संस्कृति को पर्याय मानते हैं। कुछ लोग संस्कृति की परम सीमा को सभ्यता कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि संस्कृति सभ्यता की फलभूत है। इस प्रकार सभ्यता के अनेक अर्थ मिलते हैं।[३] वस्तुतः सभ्यता साधन है। वे सब कला-कौशल के तन्त्र और तरीके जिन के द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को पूरा कर सकता है, सभ्यता कहलाती है।[४] इस दृष्टि से सभ्यता के साधनभूत साधनों का नाम संस्कृति है, अर्थात् वे मूलभूत साधन, जो संस्कृति को फलने तथा फूलने का अवसर प्रदान करते हैं, सभ्यता के वाचक हैं। मनुष्य के गुणों की वृद्धि उन साधनों के प्राप्त करने पर होती है और जातीय संस्कृति उसी पर पनपती है। मनुष्य के कला-कौशल के तन्त्र एवं तरीके आदि में कैसे थे? उन की मनुष्य की आवश्यकताओं के साथ कैसे वृद्धि हुई? इन का ज्ञान **ऋग्वेद** से भली-भाँति हो जाता है।

यहाँ संस्कृति पर स्वतंत्र विचार करने के साथ-साथ वैदिक संस्कृति पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः वैदिक तथा पौराणिक संस्कृति सभ्यता के दो माप-दण्ड हैं। वैदिक संस्कृति से जिस प्रकार वैदिक आर्यों का जीवन प्रभावित था, उसी प्रकार पौराणिक संस्कृति से आर्येतर मनुष्यों अर्थात् आधुनिक हिन्दुओं का जीवन

---

१. **वही**, पृ० २१
२. तु० पं० आद्यादत्त ठाकुर, **वेदों में भारतीय संस्कृति**, पृ० १-४५४
३. तु० डॉ० देवराज, **संस्कृति का दार्शनिक विवेचन**, पृ० १०५-१४८
४. **वही**, पृ० १६७
५. The Rgveda is virtually the compendim of verses for Anology.

प्रभावित है। आधुनिक हिन्दू-जाति पुराणों के आधार पर अपने जीवन को व्यवस्थित कर रहे हैं। पुराणों पर वेदों का गहरा प्रभाव है तथा वेद की अनेक मान्यताएँ नये परिवेश के साथ पुराणों में विकसित हुई हैं। कुछ मान्यताओं का स्वतन्त्र विकास भी हुआ है। डॉ० रामशंकर भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक **'पुराणगत-वेद-विषयक-सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन'** में दोनों संस्कृतियों को समझाने का स्तुत्य प्रयास किया है।[1] यहाँ पुराण की प्रमुख-प्रमुख संस्कृति-भेद का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### १. धर्म-विषयक संस्कृति :

पुराण के विषय में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है :

**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।**
**बिभेत्यल्पश्रुताद् मामयं प्रहरेदिति ॥**

इस का अभिप्राय यह है कि इतिहास तथा पुराणों द्वारा वेदों का उपबृंहण होता है, अर्थात् पुराण वेदार्थ में साहाय्य प्रदान करते हैं। इस विषय में उद्धृत है :

"इस विषय में हमारी युक्ति यह है कि प्राचीनतम पुराण वेदार्थ की व्याख्या के लिए प्रवृत्त हुआ है, इस मत के लिए कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता है। वेद मुख्यतः यज्ञ का प्रतिपादक है (**यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयः न्यायभाष्य ४.१.६१**), जबकि प्राचीन पुराणों के विषयों से यज्ञ का कोई साधारण सम्बन्ध भी प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः व्यास के बाद वैदिक परम्परा में जब पुराणों का सादर अनुप्रवेश होने लगा, उस के बाद ही वेदमन्त्रव्याख्यानात्मक और वेदगत कथाओं के उपबृंहणात्मक सन्दर्भों का पुराणों में अनुप्रवेश हुआ—ऐसा अनुमान किया जा सकता है और इस काल में ही यह प्रसिद्धि हुई कि "पुराण वेद का उपबृंहण है।"[2] परन्तु यज्ञ से हट कर हिन्दू-धर्म की नई धारा प्रवाहित करने में पुराण प्रसिद्ध हैं। इन के आधार पर आज का ब्राह्मण, शैव तथा वैष्णव धर्म पल्लवित हुए हैं। इस मत के प्रतिपादन में १८ पुराणों में से छः छः की कोटियाँ बनती हैं, जो निम्नलिखित हैं।

(१) सात्त्विक पुराण : (क) विष्णु-पुराण
(ख) नारद-पुराण
(ग) भगवत-पुराण विष्णु + वैष्णव धर्म
(घ) गरुड-पुराण
(ङ) पद्म-पुराण
(च) वराह-पुराण

---

१. डॉ० रामशङ्कर भट्टाचार्य, **पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन**, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६५

२. वही, पृ० १२

(२) राजस-पुराण : (क) ब्रह्माण्ड-पुराण
(ख) ब्रह्मवैवर्त-पुराण
(ग) मार्कण्डेय-पुराण ब्रह्मा+ब्राह्मण धर्म
(घ) भविष्य-पुराण
(ङ) वामन-पुराण
(च) ब्रह्म-पुराण

(३) तामस-पुराण : (क) मत्स्य-पुराण
(ख) कूर्म-पुराण शिव+शैव धर्म
(ग) लिंग-पुराण
(घ) शिव-पुराण
(ङ) स्कन्द-पुराण
(च) अग्नि-पुराण[1]

पुराण इन धर्मों के मुख्य रूप से प्रतिपादक हैं, परन्तु इन में अनेक वैदिक देवों तथा वैदिकेतर देवों की स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं।

## २. पौराणिक वंशानुचरित से संस्कृति का ज्ञान :

पुराणों के पाँच लक्षणों में से वंशानुचरित का प्रमुख स्थान है। इस के अध्ययन से ज्ञात होता है कि किस राजा के पश्चात् किस अन्य राजा का वंश स्थापित हुआ। प्रत्येक राजा के समय देश की क्या दशा थी। दशा एक विशद अर्थ का वाचक है। इस शब्द से सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक आदि दशाओं का बोध होता है। भारत में अति प्राचीन काल से राज-वंशों की एक लम्बी परम्परा रही है। वेदों में कुरु, पाञ्चाल, ययाति, भरत आदि वंशों का वर्णन प्राप्त होता है।[2] इन वंशों में अनेक राजा हुए तथा उन की अपनी-अपनी राज्य की नीति थीं। पौराणिक-काल में भी वंश-परम्परा चली है तथा इस परम्परा का प्रारम्भ वैवस्वत मन्वन्तर से प्रारम्भ होता है। इस परम्परा में अनेक अर्थात् हज़ारों राजा होने चाहिए, परन्तु पुराणों में मुख्य-मुख्य राजाओं का ही वर्णन प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त राजाओं की हज़ारों वर्षों की आयु प्रदर्शित है, जो कल्पित जान पड़ती है।[3] यहाँ मुख्य बात ध्यान देने की यह है कि पुराणों में जो मुख्य-

---

१. द्र० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, **ब्रह्मा इन दी पुराणाज़** (गाज़ियाबाद, १९८१), पृ० २-३

२. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, **सरस्वती इन संस्कृत लिटिरेचर** (गाज़ियाबाद, १९७८), पृ० १७-२०

३. पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, **पुराण-परिशीलन** (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १८९२), पृ० २१८

मुख्य वंश हैं, उन के प्रधान अथवा प्रतापवान् राजाओं के ही नामोल्लेख पुराणों में उपलब्ध होते हैं। अप्रसिद्ध अथवा नगण्य राजाओं का वर्णन पुराणों में उपलब्ध नहीं होते हैं। पुराणों में प्राप्त राजाओं के वंशों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक कोटि में सूर्यवंश के राजा तथा दूसरी कोटि में चन्द्रवंश के राजा आते हैं। सूर्यवंश के प्रमुख राजा इक्ष्वाकु, धुन्धुमार, मान्धाता, सौभरी, सत्यव्रत, हरिश्चन्द्र, सागर, भगीरथ, ऋतुपर्ण, दिलीप, श्रीराम तथा राम के वंशज हैं। इसी प्रकार चन्द्रवंश के प्रमुख राजा अत्रि, बुध, इला, सुद्युम्न, पुरुखा, ययाति, दुष्यन्त तथा भरत हैं।[1]

इन विभिन्न राजाओं के चरित्र के वर्णन से पौराणिक कालीन अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण-स्वरूप कुछ बातों का सङ्केत इस प्रकार है।

वंशानुचरित से हमें ज्ञात होता है कि किस-किस समय में किन-किन राजवंशों की स्थापना हुई। उन का क्या जीव-दृष्टिकोण था। उनके समय में देश की दशा क्या थी। प्रजा की क्या दशा थी। प्रजा तथा राजा के सम्बन्ध कैसे थे। शिल्प, कला, विद्या, व्यवसाय की प्रगति किस स्तर की थी। शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय आदि की व्यवस्था किस प्रकार की थी। उस समय स्त्री की क्या दशा थी। स्त्रियाँ समाज की आवश्यक अङ्ग हैं, अत एव यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उनकी शिक्षा, दीक्षा, समाज में उनका स्थान, पुरुष के साथ उन का सम्बन्ध, घर तथा बाहर के क्षेत्रों में उन का स्थान क्या था। पौराणिक वंशानुचरित से अनेक उपयोगी बातों की जानकारी हमें प्राप्त होती है।' सर्वप्रथम हम देखते हैं कि पौराणिक कालीन लोगों का जीवन सर्वतोन्मुखी था। तत्कालीन लोगों ने केवल बाह्य जगत् को ही नहीं देखा, अपितु उन की दृष्टि आन्तरिक जगत् पर भी थी। यही कारण है कि पौराणिक-कालीन लोगों का जीवन भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों को समान रूप से स्पर्श कर रहा है। राजा अपने राज-धर्म का पालन कर रहा है। वह प्रजा का हित साधने में जहाँ एक ओर तत्पर है, वहाँ दूसरी ओर देश अथवा राष्ट्र के हित के लिए न्याय-मार्ग की सरणि लेता हुआ राज्य को तिलाञ्जलि दे देता है।

वंशानुचरित का अध्ययन हमें शिक्षा देता है कि कैसे हम अपने जीवन को सुधार सकते हैं। हमें यहाँ एक सीख मिलती है कि हम अच्छी बातों को सीखें तथा बुरी बातों को छोड़ दें।[2]

### ३. पुराण-कालीन लोगों की मनोरञ्जन-प्रियता :

पुराणों के अध्ययन से पता लगता है कि उस काल के लोग मनोरञ्जन के अनेक साधनों को अपनाते थे। यहाँ उन सब साधनों का विस्तृत वर्णन न कर केवल

---

१. वही, पृ० २२२-३००

२. द्र० आचार्य बद्रीनाथ शुक्ल, **मार्कण्डेय पुराण : एक अध्ययन** (वाराणसी, १९६१), पृ० ४३

नाट्य सन्दर्भों का संकेत किया जा रहा है। हम यहाँ सभी पुराणों को न लेकर केवल **मत्स्यपुराण** के सन्दर्भों को मात्र सूचित कर रहे हैं। वे हमें प्रोत्साहित करते हैं कि हम अन्य सन्दर्भों को ढूंढें।

| | | |
|---|---|---|
| अभिनयः | अस्य स्वरूपं रसभेदालङ्कारादिभिः सह | ३४२।१-२ |
| अर्थप्रकृतिः | | ३३८।१९ |
| नाटकम् | | ३२७।१-३९ |
| | | ३३८।१-२७ |
| | | ३४१।१-२१ |
| नायकः | | ३३९।३७-५४ |
| नायिका | | ३३९।४०-४१ |
| नृत्यम् | | ३४१।१-२१ |
| भारती वृत्ति | | ३४०।५-७ |
| भावः | | ३३९।१ |
| रस-रस भेदः अभिनय-सम्बन्धाः | | ३४१।१-१७ |
| रूपकम् (भेदाः) | | ३३८।१-२७ |
| वृत्तिः (चतुर्धा) | | ३४०।५-११ |
| सन्धिः (पञ्च सन्धयः) | | ३३८।२१ |
| सात्त्वती (वृत्ति विशेषः) | | ३४०।५ |

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही पुराण में नाट्य के अनेक सन्दर्भ हैं। पुराणों में ऐसे सन्दर्भों को ढूंढा जा सकता है। पुराणों को आधार बना कर अनेक हिन्दी पौराणिक नाटक लिखे गये हैं। डॉ० दर्वाष सनाढ्य का **हिन्दी के पौराणिक नाटक**[1] एक सराहनीय कदम इस दिशा में है।

समाज मानवों का समूह है। इस समूह में विभिन्न रुचि के लोग रहते हैं। मनुष्य अपनी रुचि को पूर्ण करने में अनेक साधनों को अपनाते हैं। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस काल के लोग अपने मनोरञ्जनार्थ, आखेट, युद्ध, मल्ल-युद्ध, जुआ, नर्तन, अश्व-आरोहण, स्वाँग-रचना आदि कार्य किया करते थे। निस्सन्देह-रूप से पौराणिक काल में मनोरञ्जन के साधनों का विस्तार हुआ होगा। पौराणिक कालीन मनोरञ्जन के साधनों का ज्ञान अत्यधिक नवीन वैज्ञानिक साधनों को छोड़ कर अन्य साधनों के आधार पर किया जा सकता है। मनोरञ्जन के विभिन्न साधनों के आधार पर लोगों की रुचि, ज्ञान, अज्ञान, रीति, कुरीति, वेश-भूषा आदि का ज्ञान प्राप्त होता है।

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य, **हिन्दी के पौराणिक नाटक**, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१

## ४. दण्ड-विधान :

प्रगति का मूल मंत्र संयम या नियम का पालन है। जो समाज जितना ही नियमों में बँधा होगा, वह उतना ही प्रगति करेगा। यहाँ हम वैदिक समाज की ओर थोड़ा सङ्केत करना चाहते हैं। वैदिक समाज को संयमित रखने के लिए दो प्रकार के नियम दिखाई देते हैं। उन में से एक का सम्बन्ध धर्म से है तथा दूसरे का सम्बन्ध समाज से है। यह कथन कुछ स्पष्टता की आवश्यकता रखता है। **ऋग्वेद** में वरुण नैतिकता का देवता है तथा जो लोग नियम का भङ्ग करते हैं, वरुण उन को दण्ड देता है। इसी प्रकार **ऋग्वेद** में इन्द्र का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्द्र आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। राजा--मित्र तथा अनमित्र दोनों उसी की स्तुति विजय-लाभ के निमित्त करते हैं। स्वतः इन्द्र राजा है। वह स्वयं युद्ध करता है तथा युद्ध में वृत्र आदि का हनन करता है। वृत्र आदि का हनन उस का दण्ड-दान है। इस दण्ड-दान से इन्द्र राष्ट्र का कल्याण करता है। लौकिक राजाओं का वर्णन भी **ऋग्वेद** में उपलब्ध होता है। ये राजा आपस में भी लड़ते दिखाये गये हैं,[१] परन्तु इन का मुख्य प्रयोजन शासन करना तथा प्रजा का पालन करना है। प्रजा का पालन दण्ड के अभाव में असम्भव है। दण्ड शासन का मूल है तथा इस के अभाव में समाज में किसी प्रकार की उन्नति असम्भव है।

अब प्रकृत सन्दर्भ से वैदिक तथा पौराणिक दो प्रकार के समाज हमारे सामने आते हैं। वैदिक समाज में अपेक्षाकृत विश्रृङ्खलता कम थी, परन्तु पौराणिक समाज अधिक विश्रृङ्खल था। फलतः यहाँ कुछ कड़े दण्ड-विधान की आवश्यकता थी। हम पौराणिक समाज के विषय में कहेंगे कि समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। नियम के अभाव में समाज की स्थिति शंकास्पद है। ये नियम कई प्रकार के होते हैं। इन नियमों को आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, नैतिक आदि भागों में बाँट सकते हैं। इस प्रकार उन के भिन्न-भिन्न प्रयोजन होते हैं। प्रकृत सन्दर्भ में कुछ ऐसे नियमों को प्रदर्शित करना है, जिन का सम्बन्ध मूलतः अनुचित कार्यों से है। भाव यह है कि वे कार्य जो समाज में विहित नहीं हैं, अत एव उन को करने पर मनुष्य को दण्ड का भागी बनना पड़ता है। यदि हम प्रकृत विषय को ध्यान में रखकर पुराणों का अध्ययन करें, तब इस सन्दर्भ में अनेक सङ्केत पुराणों में यत्र-तत्र मिलेंगे, परन्तु उन सब का वर्णन इस लेख को अवांछित रूप से बढ़ा देगा। यहाँ हम संक्षेप में कुछ बातों की ओर सङ्केत मात्र करना चाहते हैं।

**मत्स्यपुराण** के २२७ वें अध्याय में कतिपय दण्ड-विधानों का वर्णन किया गया है। उन में से कुछ द्रष्टव्य इस प्रकार हैं। वहाँ बताया गया है कि स्त्रियों तथा बच्चों के वध करने पर क्या दण्ड दिया जा सकता है। असभ्य व्यवहार करने पर क्या दण्ड मिल सकता है। बड़े-बड़े पशुओं की चोरी करने पर चोर को क्या

१. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १७-२०

सजा मिल सकती है। तुच्छ मूल्य की वस्तु की चोरी करने पर तस्कर किस प्रकार की सजा का भागी बन सकता है। इसी प्रकार अन्य विधानों को यहाँ जाना जा सकता है।[1] ये विधान समाज के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि वे सामाजिक मूल्यों के निर्णायक तत्त्व हैं, अत एव ऐसे ही मूल्यों पर एक सभ्य समाज जीवित रह सकता है।

## ५. दान-माहात्म्य :

भारतीय संस्कृति में दान का महान् महत्त्व है। दान की एक प्राचीन परम्परा हमारे देश में रही है। दान लेने तथा देने की दोनों की परम्पराएँ हमारे देश में उपलब्ध होती हैं। हम सामान्यतः देखते हैं कि वेदों में विभिन्न देवों की स्तुतियाँ हैं तथा वे विभिन्न देव स्तुतियों से प्रसन्न होकर अपने-अपने भक्तों को दानों अथवा उपहारों से तृप्त करते हैं। देवों से अनेक प्रकार के दान मिलते हैं, परन्तु उन का समाजिक महत्त्व अधिक नहीं है। हम जिस दान का वर्णन करने जा रहे हैं, वह सभ्यता एवं संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में है, अत एव उसे सर्वप्रथम दो वैदिक उदाहरणों से प्रस्तुत किया गया है। भारत में गो-दान तथा अन्न-दान का महत्त्व अति प्राचीन काल से रहा है। **कथोपनिषद्**[2] का गोद-दान एक दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में वर्णित है। इस के अतिरिक्त राजाओं के सन्दर्भ से गो-दान के सङ्केत यत्र-तत्र **ऋग्वेद** में मिलते हैं। **ऋग्वेद** में एक सूक्त धनान्नदानम् है।[3] धनान्नदानम् (सूक्त) सांस्कृतिक परिवेश में है, जो अन्य-दान की महत्ता को सूचित करता है। अन्न-दान से शुभ आदि की प्राप्ति होती है।[4] **कूर्मपुराण** में भी दान का वर्णन उपलब्ध होता है, जिस का सम्बन्ध धर्म, विविध देवों की पूजा तथा गृहस्थ की आह्निक विधि से है।[5]

इस प्रकार पुराणों में दान का मूल्य कई सन्दर्भों में वर्णित है। इस सन्दर्भ में वर्णन अनेक पुराणों में मिलते हैं, परन्तु यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त सङ्केत केवल **मत्स्य-पुराण** के आधार पर किया गया है।

**मत्स्यपुराण** के कई अध्यायों में दान का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इस सन्दर्भ में कुछ अध्याय उल्लेखनीय हैं। **मत्स्यपुराण** के ७४वें अध्याय में महादान के अन्तर्गत सोलह प्रकार के दानों का वर्णन किया गया है। वे तुलापुरुषदान, हिरण्यगर्भदान, ब्रह्माण्डदान, कल्पपादप-दान, गोसहस्रक-दान, हिरण्यकामधेनु-दान, हिरण्याश्व-दान, हिरण्याश्वरथ-दान, हेमहस्तिरथ-दान, पञ्चलाङ्गुलक-दान, धरादान,

---

१. **मत्स्यपुराण**, २२७.१-२१७
२. **कथोपनिषद्**, १.१.३
३. **ऋग्वेद**, १०.११७
४. **ब्रह्मपुराण**, २१८
५. **कर्मपुराण**, २६

विश्वचक्र-दान, कल्पलता-दान, सप्तसागरक-दान, रत्नधेनु-दान और महाद्भुतघट-दान हैं। सर्वप्रथम देवों, राजाओं आदि ने इन दानों का प्रतिपालन किया था तथा इन के अनेक लाभ भक्त के हित में प्रदर्शित हैं।[1] इन के अतिरिक्त अन्य दान एक कल्पतरु का दान,[2] सहस्र गौओं का दान,[3] एक स्वर्ण अश्व का दान,[4] एक स्वर्ण हस्ति का दान,[5] पाँच हलों के साथ पृथिवी का दान[6] तथा कतिपय अन्य दानों के वर्णन **मत्स्यपुराण** में उपलब्ध होते हैं।

इन दानों के प्रत्यक्ष वर्णन से पौराणिक दान-महत्त्व को भली-भाँति जाना जा सकता है। ये दान भक्त को अनेक सिद्धियों की ओर ले जाते हैं तथा उन सिद्धियों की ओर जाने के लिए भक्त को अनेक कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराते हैं। दान आत्म-संयम, त्याग-भाव, दया-भाव आदि को सूचित करता है। भारतीय संस्कृति में त्याग, वलिदान, दया आदि का मार्मिक विवेचन उपलब्ध होता है। इन भावों से परिचालित कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य की आत्मा की शुद्धि होती है। इस शुद्धि से मनुष्य का ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन सफल होता है। भारतीय संस्कृति की एक परम विशेषता यह है कि इस में मानव-जीवन के लौकिक तथा आध्यात्मिक दोनों पक्षों की उन्नति पर बल दिया गया है। प्रकृत-विषय के प्रतिपादन द्वारा पौराणिक संस्कृति पर एक संक्षिप्त प्रकाश पड़ता है।

## ६. पौराणिक वर्ण-व्यवस्था :

वेद में पुरुष के विभिन्न अङ्गों से चारो वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु यह वर्णन वर्णों की अन्यन्त विशद व्याख्या नहीं करता है। यह वर्णन अत्यन्त अस्पष्ट भी है, क्योंकि चारो वर्णों का कर्त्तव्य-पालन वर्णानुसार वेद में दृष्टिगोचर नहीं होता है। वस्तुतः वेद में आर्य तथा अनार्य दो वर्ग थे। जो वेद-विधि के अनुसार आचरण करता था, वह आर्य था। जो वेद की विधियों के अनुसार आचरण नहीं करता था, वह अनार्य था। पौराणिक अथवा आधुनिक चारो वर्णों का स्वरूप वेदों में उपलब्ध नहीं होता है। पुराणों में यह वर्णन अत्यन्त स्पष्ट है। यहाँ उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बताई गई है। इस सन्दर्भ में **विष्णुपुराण** का कथन है कि ब्रह्मा के मुख से सत्त्वप्रधान ब्राह्मण की, वक्षःस्थल से, रजः प्रधान क्षत्रिय की, जंघाओं

---

१. **मत्स्यपुराण**, २४७.७-१५

२. **वही**, २७७

३. **वही**, २७८

४. **वही**, २८०

५. **वही**, २८२

६. **वही**, २८३

से रज तथा तम विशिष्ट वैश्य की तथा चरणों से तमः प्रधान शूद्रों की उत्पत्ति हुई ।[१] पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदि में वर्ण-व्यवस्था कर्मणा थी तथा कालान्तर में जन्मना हो गई । इस वर्ण-विभाजन को मुख्यतः सतयुग तथा त्रेतायुग से सम्बद्ध कर सकते हैं । सतयुग में वर्ण-विभाजन कर्मणा प्रतीत होता है, क्योंकि इस सम्बन्ध में मनुष्यों को स्वेच्छानुसार कर्म करने की अनुमति थी तथा सभी को यज्ञों में भाग लेने का समान अधिकार था । ब्रह्मा ने यज्ञानुष्ठान के लिए यज्ञ के साधन-भूत सम्पूर्ण चातुर्वर्ण्य की रचना की । यज्ञ से देवता प्रसन्न होते हैं तथा वे वृष्टि करते हैं । यज्ञ भी वे ही लोग कर सकते हैं, जो स्वधर्मपरायण, सदाचारी, सज्जन तथा सुमार्ग-गामी हैं । यहाँ स्वेच्छानुसार कार्य करने की अनुमति है ।[२]

पौराणिक वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ में जटिल न थी । लोग आपस में प्रेम-भाव रखते थे । सब में ज्ञान की पिपासा थी तथा ईश्वर-भय और उस की प्राप्ति की लालसा थी । इस की पुष्टि **विष्णुपुराण** से होती है । इस पुराण का कथन है कि "चातुर्वर्ण्य विभाग में स्थित प्रजा अति श्रद्धायुक्त आचारण वाली, स्वेच्छानुसार रहने वाली सम्पूर्ण बाधाओं से रहित, शुद्ध अन्तःकरण वाली, सत्कुलोत्पन्न और पुण्य कर्मों के अनुष्ठान से परम पवित्र थी । उसका चित्त शुद्ध होने के कारण उस में निरन्तर शुद्धस्वरूप श्रीहरि के विराजमान रहने से उन्हें शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता था, जिस से वे भगवान् के उस 'विष्णु' नामक परम पद को देख पाते थे ।"[३]

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि प्रजा प्रारम्भ में स्वेच्छानुसार रहती थी । उस के मन में ज्ञान तथा ईश्वर के प्रति लगाव था । उस समय वर्ण-व्यवस्था ने जन्म ले लिया था, परन्तु स्वेच्छानुसार कार्य करने से कोई भी व्यक्ति किसी वर्ण को अपने कर्म के आधार पर प्राप्त कर सकता था ।

त्रेतायुग से स्थिति बिगड़नी प्रारम्भ हो गई । इस युग के आने पर मनुष्यों की मनोदशा परिवर्तित होने लगी और मनुष्य पापाचरण करने लगे । इस सन्दर्भ में **विष्णुपुराण** का कथन है कि इस युग में पाप बढ़ गया है तथा इस युग ने घोर पापों को प्रजा में प्रवृत्त कर दिया ।[४] यहाँ हम देखते हैं कि त्रेतायुग के आने पर मनुष्यों में प्रवृत्ति बदल गई । फलतः वर्ण-व्यवस्था में विश्रृङखलता आयी । यहाँ से वर्ण-व्यवस्था का प्रचलन कर्मणा न हो कर जन्मना हो गया होगा । इस में पथ-भ्रष्टता मुख्य कारण थी । लोगों का चित्त पाप से भर गया था, अत एव लोग यज्ञ-विरोधी हो हो गये । यहीं से वर्ण-व्यवस्था सुसंयमित हो गई । इस का सङ्केत **विष्णुपुराण** के

---

१. **विष्णुपुराण**, १.६.३-६

२. **वही**, १.६.७-१०

३. **वही**, १.६.११-१३

४. **वही**, १.६.१४

सन्दर्भों से प्राप्त होता है ।[1]

## ७. पौराणिक युग की भोजन-सामग्री :

पौराणिक युग के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था ।[2] कृषि से अनेक प्रकार के अन्न प्राप्त होते थे, जिन का उपभोग उस काल के लोग करते थे । कृषि से प्राप्त अन्नों में धान, जो, गेहूँ, तिल, काँगनी, ज्वार, कोदो, मटर, उड़द, मूंग, मसूर, कुलथी, राई, चना आदि मुख्य हैं । इन के अतिरिक्त उस समय प्रयोग में आने वाली श्यामाक, नीवार, वनतिल, गवेधु, वेणुयव, मक्का आदि थे । लोग इन का स्वयं भोग करते थे तथा यज्ञों में भी इन का प्रयोग विधि-वैभिन्य के साथ होता था ।[3] **वामन-पुराण** में सुकेशिवृत्तान्त के सन्दर्भ से भोज्य अन्नों का वर्णन तथा अभोज्यों का लक्षण प्रस्तुत किया गया है ।[4] यहाँ परिगणित भोज्यों में कुछ अन्न सामान्यतः लोगों की नित्य प्रति की भोग की सामग्री थे तथा कुछ का यज्ञों में नियमपूर्वक प्रयोग होता था ।

पौराणिक संस्कृति का क्षेत्र बड़ा विशद है । इस के अन्तर्गत लोगों के सामान्य धार्मिक विश्वास को भी स्थान दिया जा सकता है तथा तदनुसार कहा जा सकता है कि लोग पौराणिक युग में छोटे-छोटे देवियों तथा देवों में विश्वास रखते थे । पाप के निवारणार्थ तथा आत्मशुद्धि के लिए लोग पूजा, स्नान तथा तीर्थ-स्थलों को महत्त्व देते थे ।[5] पुराणों में कन्याओं के सामान्य एवं विशेष विवाहों के यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होते हैं । सामान्यतः विवाह के विषय में ज्ञातव्य यह है कि विवाह बहुत सोच-विचार कर किये जाते थे । इस सम्बन्ध में विवाह की अवधि, कन्या-दान के लिए कुल आदि का विचार, कन्या आदि के विक्रय में निषेध, विवाह-काल के उल्लङ्घन में दोष आदि का पूर्ण विचार किया जाता था ।[6] ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में महती उन्नति की दशा परिलक्षित होती है । भारतीय दर्शन तो संसार में प्रसिद्ध है तथा कोई भी देश भारतीय दर्शन की समकक्षता नहीं रखता है । **ऋग्वेद** से **उपनिषदों** तक दर्शन की धारा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी और **पुराणों** ने भी उस धारा को नवीनता दे कर और आगे बढ़ाया । यही कारण है कि पुराणों में दर्शन पर विविध प्रकार से

---

१. वही, १.६.३२-३८

२. वही, १.६.३२

३. वही, १.६.२१-२५

४. **वामनपुराण**, १५.६७

५. द्र० **ब्रह्मपुराण**, ५७, ६०, ६२, ६३, ६५, ६६, ६७, १४३, १४४, १५५, १६१

६. वही, १६५

विचार किया गया है । योगविधि,[१] सांख्य-विधि,[२] क्षर तथा अक्षर का निरूपण,[३] विद्या तथा अविद्या के स्वरूप,[४] ब्रह्म की अनेकता[५] आदि दार्शनिक विषयों पर सम्यग् विचार पुराणों में उपलब्ध होते हैं ।

समाज में रह कर व्यक्ति पाप एवं पुण्य दोनों प्रकार के कार्यों को करता है, अत एव पुराणों में उन दोनों कृत कर्मों के फल-प्रदर्शित हैं । पुण्य-कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य को स्वर्ग तथा पापों के कारण नरक की प्राप्ति हो सकती है । पुराणों में यह भी प्रदर्शित है कि यदि मनुष्य ने पाप किया है और उसका प्रायश्चित कर लेता है, तो वह पाप-कर्म-फल से मुक्त हो सकता है । तदर्थ प्रायश्चित का विस्तृत विवेचन पुराण में यत्र-तत्र मिलेगा । यतियों का प्रायश्चित[६], अनिच्छा या इच्छा से किए गए पापों का प्रायश्चित, ब्रह्म-हत्या का प्रायश्चित[७], चोरी आदि पापों का प्रायश्चित, अगम्यागमन का प्रायश्चित, अवध्य की हत्या का प्रायश्चित[८], चोरी तथा अखाद्य-भक्षण का प्रायश्चित[९] आदि प्रायश्चितों के कुछ भेद यहाँ प्रदर्शित हैं ।[१०]

मानव-जीवन में व्रतों, उपवासों आदि के अनेक महत्त्व तथा फल हैं । इन का सम्बन्ध प्रायः सामान्य लोगों से है । इस से हमारी पौराणिक संस्कृति की स्पष्ट झलक मिलती है । विभिन्न पुराणों में व्रतों के अनेक रूप तथा फल वर्णित हैं । यहाँ **अग्नि-पुराण** के माध्यम से कुछ व्रतों की ओर सङ्केत किया गया है । यहाँ प्रदर्शित व्रत—प्रतिपद-व्रत,[११] द्वितीयाव्रत,[१२] तृतीयाव्रत,[१३] चतुर्थीव्रत,[१४] पञ्चमीव्रत,[१५] षष्ठीव्रत,[१६] सप्तमीव्रत,[१७]

---

१. वही, २३९
२. वही, २४०
३. वही, २४१
४. वही, २४४
५. वही, २४५
६. कूर्मपुराण, २९
७. वही, ३०
८. वही, ३२
९. वही, ३३
१०. अग्निपुराण, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४
११. वही, १७६.६
१२. वही, १७७.२०
१३. वही, १७८.६८
१४. वही, १७९.२
१५. वही, १८०.२
१६. वही, १८१.२
१७. वही, १८२.४

अष्टमीव्रत[१], नवमीव्रत[२], दशमीव्रत[३], एकादशीव्रत[४], द्वादशीव्रत[५], श्रवणद्वादशीव्रत[६], अखण्डद्वादशीव्रत[७], त्रयोदशीव्रत[८], चतुर्दशीव्रत[९], शिवरात्रिव्रत[१०], अशोकपूर्णिमादिव्रत[११], वारव्रत[१२], नक्षत्रव्रत[१३], दिवसव्रत[१४], मासव्रत[१५], नानाव्रत[१६], दीपदान-व्रत[१७] मासोपवासव्रत[१८], भीष्मपञ्चकव्रत[१९], कौमुदव्रत[२०] मुख्य हैं। इन व्रतों के स्वरूप लाभादि के वर्णन विस्तार की अपेक्षा रखते हैं, अत एव यहाँ केवल व्रतों का नाम-ग्रहण ही किया गया है। विशेष ज्ञान के लिए तत्तत् स्थानों का अध्ययन अपेक्षित है।

इस के अतिरिक्त पौराणिक काल में मूर्ति-विज्ञान[२१], प्रासाद-निर्माण-विधि[२२], ज्योतिष शास्त्र[२३] आदि विद्याओं की महती उन्नति थी। इन सब विषयों का ज्ञान हमें इस बात का विश्वास दिलाता है कि पौराणिक काल में मनुष्यों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक आदि की उन्नति सन्तोषजनक थी।

---

१. वही, १८३.१६
२. वही, १८५.१५
३. वही, १८६.१
४. वही, १८७.६
५. वही, १८८.१४
६. वही, १८६.१५
७. वही, १६०.७
८. वही, १६१.१०
९. वही, १६२.१०
१०. वही, १६३.६
११. वही, १६४-७
१२. वही, १६५.५
१३. वही, १६ .२२
१४. वही, १६७.१६
१५. वही, १६८.१५
१६. वही, १६६.१०
१७. वही, २००.१६
१८. वही, २०४.१८
१९. वही, २०५.६
२०. वही, २०६.२०
२१. वही, ३८.५०, ४४.४६, ५०.४२
२२. वही, ४२.२५; ६३.४२; ६४.१८; १०१.१३; १०४.३४
२३. वही, १२१.७६; १२४.२३; १२५.५१

—८—

# मेघदूत का शिल्प और संवेदन

यहाँ शिल्प का तात्पर्य कलापक्ष तथा संवेदन का तात्पर्य भावपक्ष है। कला-पक्ष के अन्तर्गत अलङ्कार, छन्द, लालित्य-योजना, कथा-वस्तु का चयन आदि का समावेश होता है। अलङ्कार तथा छन्दों को लेकर डॉ० मधुसूदन मिश्र 'ने Metres of Kalidas' नामक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।[1] डॉ० डी० डी० शर्मा ने **कालिदास की कला और संस्कृति'** पर एक विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध प्रस्तुत किया है।[2] इसी प्रकार डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने '**कालिदास की लालित्य योजना**'[3] पर एक सुन्दर ग्रन्थ का प्रणयन किया है। 'मेघदूत के शिल्प' के स्वरूप को इन ग्रन्थों के माध्यम से भली-भाँति जाना जा सकता है। मैं यहाँ मेघदूत के इस अङ्ग का विश्लेषण न कर केवल भावपक्ष पर एक संक्षिप्त विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रायः लोगों की मान्यता है कि कालिदास शृङ्गार-प्रेमी हैं। उन्होंने अपनी शृङ्गार-भावना को प्रकृत सन्दर्भ में मेघदूत के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। संस्कृत-नाट्यों के लिए लक्षणकारों की मान्यता है कि उनमें शृङ्गार या वीर रस का सामान्यतः प्राधान्य होना चाहिए :

**एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यो वीर शृङ्गार एव वा।**
**अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ॥**[4]

इससे स्पष्ट है कि वीर या शृंगार रस को प्रधान बनाकर अन्य रसों को अङ्ग रूप में वर्णित किया जा सकता है। यह निश्चय है कि मेघदूत में वीर रस का वर्णन नहीं है। पुनः हम यह मानने पर कटिबद्ध हो जाते हैं कि इसमें शृङ्गार रस अवश्य है। सामान्यतः सभी लोग शृङ्गार रस ही मेघदूत में मानते हैं, परन्तु मेरी मान्यता इससे भिन्न है। लोगों का कथन है कि कालिदास ने इस ग्रन्थ की रचना रामायण में दिये गये राम के सीता के प्रति सन्देश को हृदय में रखकर किया है : "**रामस्य सीतां प्रति संदेशं मनसि निधाय कृतवानित्याहुः।**" निश्चय ही यह वर्णन रामायण में उपलब्ध है।

---

१. डॉ० मधुसूदन मिश्र, **मिटर्स ऑफ कालिदास**, दिल्ली, १९७८

२. डॉ० डी० डी० शर्मा, **कालिदास की कला और संस्कृति**, साहित्य भण्डार मेरठ, १९७०

३. हजारी प्रसाद द्विवेदी, **कालिदास की लालित्य योजना**, राजकमल, दिल्ली, १९७०

४. **दशरूपक**, ३.३८

रामायण में वर्णित राम एवं सीता का प्रेम श्रृङ्गार-परक नहीं है। यह सामान्यतः स्वीकृत है कि देवों एवं देवियों में जो पारस्परिक प्रेम दिखाया जाता है, उसमें सामाजिकों के ओर से श्रृङ्गार की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि यह नितान्त अनुचित है तथा इसकी कल्पना वैरस्य को उत्पन्न करती है। यही बात मेघदूत के यक्ष एवं यक्षिणी के विषय में कही जा सकती है। यक्ष तथा यक्षिणी अर्द्ध देवता माने गये हैं। इनके अन्दर भी देवों जैसा सामर्थ्य एवं बल होता है। ये प्रायः अन्तरिक्ष स्थानीय माने जाते हैं, अत एव उन में श्रृङ्गार का अन्वेषण अनुचित है।

जैसा कि कहा गया है कि यक्ष कुबेर से शप्त होकर एक वर्ष का पत्नी-वियोग सहा और रामगिरि के आश्रमों में रहा, जहाँ राम पहले निवास कर चुके थे। यक्ष का ऐसे स्थान में रहना उसकी मनोदशा की शुद्धता को व्यक्त करता है। उसी तरह यक्षिणी का अलकापुरी में निवास करना देवता के घर में या उसके समीप रहने को सूचित करता है, क्योंकि हिमालय पर अलकापुरी थी और हिमालय स्वयं ही देवों की आत्मा स्वीकृत है।[१] कालिदास ने यक्ष को एक वर्ष का प्रिया-वियोगी सिखाया है।[२] यह भी प्रतीकात्मक जान पड़ता है। देवता सतोगुणी होते हैं, तमोगुणी नहीं, लेकिन वे भी कभी-कभी क्षण भर के लिए तमोगुण के शिकार बन जाते हैं। एक ब्राह्मण का कथन है कि मनुष्य के जीवन में प्रायः सतयुग आदि भावनाओं के अनुसार सदैव आते जाते रहते हैं। देवता अतिमानव हैं। उन में यह परिवर्तन बहुत कम आता है। यदि मनुष्य जैसा कभी होता भी है, तो वह केवल उपदेश के लिये या मनुष्यों को शिक्षा के लिए होता है। यक्ष का वियोगी होना मानव को उपदेश देने के लिए है।

कालिदास ने मेघ को यक्ष का संदेशवाहक दिखाया है। हम यह स्वीकार करते आ रहे हैं कि कालिदास वेदों एवं पुराणों से बहुत प्रभावित हैं। उन्हीं की बातों को वे अन्यथा रूप में चित्रित करते हैं। मेघ वैदिक व्याख्या के अनुसार माध्यमिक वाक् का प्रतीक है। यह माध्यमिक वाक् जल एवं विद्युत् से पूरित है। विद्युत् का पुनः समन्वय सूर्य से पाया जाता है। सूर्य आत्मा का प्रतीक है।[३] हम ने ऊपर कहा है कि यक्ष एवं यक्षिणी अर्द्ध देवता हैं। ये सभी देवता एक आत्मा के विभिन्न रूप हैं तथा उस से ही निःसृत हैं। अन्ततोगत्वा प्रलयावस्था में उसी में मिल जाते हैं। उससे अलग होकर उससे मिलने की आकाँक्षा रखते हैं। यक्ष एवं यक्षिणी का वियोग तथा मिलन की इच्छा ब्रह्म या आत्मा के साथ इसी अवस्था को ध्वनित करती है।

कालिदास ने मेघ के मार्ग में नदियों एवं पर्वतों को दिखाया है। कवियों की उक्ति में सागर को नदियों का पति माना गया है। सागर आत्मा का प्रतीक है। कालिदास की दृष्टि में नदियों एवं मेघ का क्या सम्बन्ध रहा होगा, वह यहाँ विचार-

---

१. **कुमारसम्भव**, १.१

२. **मेघदूत**, १.१

३. **कठोपनिषद्**, २.२.२

णीय है । जल को जीवन कहा गया है । नदियाँ बादलों से जल पाकर बहने लगती हैं तथा जल के अभाव में वे सूख जाती हैं, अत एव मेघ से जल पाने का तात्पर्य जीवन पाना है तथा जो पानी देने वाला मेघ है, वह जीवन का दाता बनता हुआ आत्मा या ब्रह्म का प्रतीक है ।

कालिदास ने उत्तर मेघ में यक्षिणी को मोर को नचाते हुए दिखाया है ।[1] मोर के लिए संस्कृत में शिखिन् शब्द का प्रयोग पाया जाता है । शिखन् मोर तथा अग्नि का वाचक है । पुनः अग्नि शुद्धता या निर्मलता का प्रतीक है । जैन-धर्म में सोलह प्रकार की विद्या-वेदियाँ बताई गई हैं । उन में से कुछ का सम्बन्ध शिखिन् से वाहन-रूप में है ।[2] यह सम्बन्ध विद्या-देवी की शुद्धता को अभिव्यक्त करता है, वैसे ही जैसे ब्राह्मणिक सरस्वती का हंस से सम्बन्ध उसकी शुद्धता अथवा ज्ञान-वाहनता का प्रतीक है ।[3] इसी तरह कालिदास ने यक्षिणी को मयूर या शिखिन् से सम्बद्ध कर उस यक्षिणी की चारित्रिक शुद्धता और अन्य शुद्धताओं को अभिव्यक्त किया है । कुछ व्याख्याकारों ने मेघदूत की अध्यात्मपरक व्याख्या की है । ऐसे लोगों में सम्भवतः मिराशी और वासुदेव शरण अग्रवाल प्रमुख हैं । इनकी प्रस्थापना ठीक **भी** जान पड़ती है, क्योंकि कालिदास एक सामान्य कवि नहीं थे । उनका व्यक्तिवाचक नाम कुछ और ही था, परन्तु वे विशेषण शब्द 'कालिदास' से प्रसिद्ध थे । वे काली के दास थे, एक सच्चे भक्ति थे और भक्त को शृङ्गारिक स्तर पर उतरना शोभा नहीं देता, अत एव कालिदास ने मेघदूत में जो बात कही हैं, वह सब भक्ति-रस के परिवेश में है । इस भक्ति-रस का परिस्फुटन दो साधकों द्वारा हुआ है । जो साधारण कोटि के प्रेमी एवं प्रेमिका होते हैं, वे अनेक स्वाँग रचते हैं तथा अनेक भर्त्सनाओं के पात्र बनते हैं, परन्तु यक्ष तथा यक्षिणी कभी अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते हैं ।

भक्ति-रस शान्त-वातावरण की अपेक्षा रखता है । शान्त वातावरण के दृश्य मेघदूत में भरे पड़े हैं । यक्ष रामगिरी के शान्त वातावरण में निवास कर रहा है । दूसरी ओर यक्षिणी अलकापुरी में स्थित अपने घर की निर्जनता का सेवन कर रही है । नदियाँ शान्त रूप से बह रही हैं । पर्वत स्तब्ध खड़े हैं । शून्य गगन का सेवन बलाकाएँ कर रही हैं । पवन मन्द-मन्द बह रहा है । ऐसे वातावरण में शृङ्गार अर्थात् रस-राज पनप नहीं सकता । यह वातावरण उस का नितान्त विरोधी है । इसके अतिरिक्त कोई भी भक्त मेघदूतगत श्लोकों को पढ़ता हुआ या सुनता हुआ आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता है ।

इस प्रकार अन्त में कहा जा सकता है कि मेघदूत कालिदास का एक भक्ति-प्रधान काव्य है । यदि कालिदास के अन्य ग्रन्थ न होते, तो केवल यही ग्रन्थ कालिदास को महाकवि घोषित करने में पूर्णतया समर्थ होता ।

---

१. **उत्तरमेघ**, २.१६

२. डॉ॰ मु॰ इसराइल खाँ, सरस्वती इन संस्कृत लिटिरेचर, (गाज़ियबाद, १६७८), पृ॰ १२२-१२३ ३. **वही**, पृ॰ १२३-१२४

## यजुर्वेद में सरस्वती का स्वरूप

### १. सरस्वती का भौतिक स्वरूप :

हम **ऋग्वेद** के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस वेद में सरस्वती की स्थूल सत्ता नदी-रूप में ही है तथा केवल थोड़े से मंत्र सरस्वती के नदी-रूप को प्रस्तुत करते हैं। सरस्वती की यही दशा **यजुर्वेद** में भी है।[१] एक मंत्र सरस्वती-विषयक ऐसा है, जो **ऋग्वेद**[२] तथा **यजुर्वेद**[३] दोनों में प्राप्त होता है। इस मंत्र में सरस्वती को एक देवी तथा नदी दोनों रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रकृत मंत्र की व्याख्या करते हुए महीधर सरस्वती को इस प्रकार चित्रित कर रहे हैं, मानो वह सारे संसार पर जल वर्षण कर रही है : "**महो महदर्णः उदकं प्रचेतयति प्रज्ञापयति प्रेरयति सर्वस्यां भूमौः वृष्टिं कारयति**।" यह कार्य एक नदी के किए असम्भव है, अत एव सरस्वती इस रूप में माध्यमिका वाक् है, जिसका स्थान अंतरिक्ष है।

मंत्र का द्वितीय भाग सरस्वती को वाक् की देवी-रूप में प्रस्तुत करता है : "**धियो विश्वा विराजति**।" वाक् की देवी-रूप में उसे प्रकाश-पुञ्ज से युक्त दिखाया गया है तथा उस प्रकाश से वह सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करती है। महीधर ने इस अंश की व्याख्या इस प्रकार की है : "**विश्वाः सर्वाः सर्वप्राणिस्था बुद्धिः विराजति विराजयति दीपयति सर्वजन्तुबुद्धिः प्रकाशयतिः**"। ग्रीफिथ् ने इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति की है : "she with her light illuminates, she brightens every pious thought."

**यजुर्वेद** के एक अन्य मंत्र में सरस्वती का वर्णन निम्नलिखित रूप में हुआ है :

**पञ्च नद्यः सरस्वतीम् अप्यन्ति सस्रोतसः।**
**सरस्वती तु पञ्चधा सो देशोऽभवत् सरित्॥**[४]

**ऋग्वेद** में सरस्वती को 'त्रिषधस्था'[५], सप्तधातुः[६] तथा सप्तस्वसा'[७] कहा गया है।

---

१. यजुर्वेद, २०.८६; ३४.२
२. ऋ० १.३.१२
३. यजुर्वेद, २०.८६
४. वही, ३४.११
५. ऋ०, ६.६१.१२
६. वही, ६.६१.१२
७. वही, ६.६१.१०

इसी प्रकार **यजुर्वेद** के उपर्युक्त मंत्र में सरस्वती को पञ्चधा कहा गया है । उपर्युक्त ऋग्वैदिक विशेषणों से सरस्वती सात नदियों के साथ एक समुदाय बनाती थी,[१] परन्तु **यजुर्वेद** के पञ्चधा से ज्ञात होता है कि वह **पाँच** के साथ एक समुदाय बना रही है । इस विशेषण से ज्ञात होता है कि सरस्वती पाँच सतसिन्धव की नदियों को आश्रय देती थी । रे चौधुरी का कथन है कि सरस्वती को 'पञ्चधा' इस लिए कहा गया है, क्योंकि वह सरस्वती साल के सभी मासों में सततप्रवाहिनी नहीं थी । वह वस्तुतः एक सूखी नदी थी, जिस का पानी पाँच भागों में स्थान-स्थान पर बटा हुआ था ।[२] इस कथन में सत्यता इस कारण जान पड़ती है कि **वाजसनेयिसंहिता** के समय में नदी ह्रासोन्मुख थी । यह भी सम्भव है कि दृषद्वती आदि को आधार प्रदान करने के कारण इसे पञ्चधा कहा गया है ।[३] यहाँ पञ्चधा को लेकर जो कहा गया है कि : '**सो देशोऽभवत् सरित्**' इस से वह देश सङ्केतित जान पड़ता है, जिसे मनु ने ब्रह्मावर्त[४] कहा है ।

## २. सरस्वती की कुछ महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ :

**यजुर्वेद** में सरस्वती को अत्यल्प उपाधियों से विभूषित किया गया है । इन उपाधियों में प्रमुख पावका, बृहती, यशोभगिनी, हविष्मती, सुदुधा तथा जागृवि हैं । इन में से कुछ की व्याख्या निम्नलिखित है ।

### (क) यशोभगिनी :

**यजुर्वेद** में सरस्वती के लिए इस शब्द का प्रयोग चतुर्थी में हुआ है तथा चतुर्थ्यन्त में **यशोभगिन्यै** का अन्त स्वाहा से होता है ।[५] महीधर इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "**जीवतः प्रशंसा यशः । तस्यः यशसो भगिनी** वाग्रूपा **सरस्वती** तस्यै ।' उव्वटाचार्य की व्याख्या इस प्रकार है : "**जीवतः प्रशंसा यशः । भगिनीति सम्बन्धि-शब्दः स्वसेत्युच्यते ।**" इन दोनों व्याख्याओं पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि महीधर के अनुसार यशोभगिनी जीवित प्राणी के यश की भगिनी है, परन्तु उव्वट के अनुसार अर्थ अधिक स्पष्ट है । तदनुसार यशोभगिनी जीवित प्राणी के यश को साकार करने वाली है । ग्रीफिथ् उसे सरस्वती का विशेषण मानकर अर्थ करते है : Sarasvati enriched with glory". इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सरस्वनी वाक् के रूप में यश की स्रोत है । जयदेव शर्मा के अनुसार सरस्वती वेद-वाणी के रूप में समृद्धि को

---

१. जान डाडसन, अ **क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माइथालोजी** (लन्दन, १९६१), पृ० २८१

२. रे चौधुरी, एच० सी०, 'द सरस्वती', **सान्इस एण्ड कल्चर** ८ (१२), १९४२, पृ० ४७२

३. महीधर की व्याख्या **यजुर्वेद**, ३४.११

४. **मनुस्मृति**, २.१७

५. **यजुर्वेद**, २.२०

देने वाली है। श्री राम शर्मा आचार्य ने सरस्वती को इस सन्दर्भ में वाग्देवी माना है तथा वह यज्ञ की दात्री है, क्योंकि सरस्वती की भक्ति भक्त को यश देती है। दयानन्द सरस्वती ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की हैं : "**(सरस्वत्यै) सरन्ति येम तत्सरो ज्ञानं तत्प्रशंस्तं विद्यते यस्याँवाचि तस्यै। सरस्वतीबिवाङ्नामसु पठितम्। निघण्ट१.२ (यशोभगिन्यै) यशासि सव्यवनादीनि कर्माणि भजितु शीलं यस्यास्तादृशी।**' इसके अमुख सरस्वती ज्ञान से परिपूर्ण वाक् है है तथा यशोभगिनी के रूप में सरस्वती सत्य शब्दों से परिपूर्ण वाक् है।

इस प्रकार यशोभगिनी सरस्वती को वाक् अथवा वाक् की देवी के रूप में प्रस्तुत करता है।[1] इस का भाव यह प्रतीत होता है कि यदि सरस्वती की आराधना श्रद्धा के साथ की जाये, तो वह सरस्वती भक्त को सभी प्रकार के ज्ञान, प्रसन्नता आदि को देती है, जिनसे समृद्धि उत्पन्न होती है अथवा यदि सरस्वती की स्तुति बलि के साथ की जाती है, तब बच्चों की उत्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी के रूप में उन बच्चों को विक्यात करती है।

(ख) **हविष्मती** :

**शुक्लयजुर्वेद** में सरस्वती के लिए केवल एक बार यह उपाधि प्रयुक्त हुई है।[2] उव्वाटाचार्य इस की व्याख्या करते हुए लिखते है कि : "**सरस्वती च हविष्मती हविषा संयुक्ता।**" दयानन्द सरस्वती इसकी व्याख्या करते हुए लिखते है कि "**(हविष्मती) प्रशस्तानि हविष्यादातुमर्हाणि विद्यन्ते यस्याः सा।**" महीधर ने इस मंत्र का सम्बन्ध सरस्वती तथा नासत्या से दिखा कर सौत्रामणि से सम्बद्ध किया है (**कर्मसु=सौत्रामण्यादियागेषु**)। श्री जयदेव शर्मा का कथन है कि यहाँ सरस्वती का तात्पर्य विद्वत्सभा से है। हविष्मती से संयुक्त विद्वत्सभा का तात्पर्य यह है कि वह सभा ज्ञान प्रदान करने वाली शक्ति तथा श्रवणीय उपायों से संयुक्त है। इस मंत्र में शर्मा ने सामाजिक तत्त्व को निहारने का प्रयत्न किया है। फलतः उन्होंने इस मंत्र में प्रयुक्त नरा को नेता का समकक्ष माना है। उन के अनुसार मंत्र में प्रयुक्त सुपेशसा तथा हिरण्यवर्तनी उस नेता की विशेषताएँ है, जिन से यह अभिव्यक्त होता है कि वह नेता साधुप्रवृत्ति, कोमल स्वभाव तथा सद्मार्गगामी है। उनके अनुसार राजा अर्थात् इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह विद्वत्सभा के समान समाज का नेता बनाए, जो उसकी रक्षा कर सके।

इस मंत्र का सम्बन्ध यज्ञ से है। **यजुर्वेद** में अनेक यज्ञों के वर्णन प्राप्त होते हैं, जिनका सम्बन्ध धिभिन्न प्रकार के देवों से है। यज्ञों का सम्पादन विभिन्न प्रकार के अभिप्रायों को लक्ष्य कर होता है तथा भिन्न-भिन्न वरदानों अथवा उपहारों की

---

१. ग्रीफिक् व्याख्या **वही** २.२०

२. **वही**,२०.७४

आशा से देवों बलियाँ अर्पित की जाती हैं। प्रकृत मंत्र की अन्तिम पंक्ति से ज्ञात होता है कि यहाँ उस सरस्वती की स्तुति बलि-पूर्वक की गई है। भक्त बलि प्रदान करते समय यह पूर्ण विश्वास रखता है कि उस की बलि देवी द्वारा अवश्य ग्रहण की जायेगी। हविष्मती से ज्ञात होता है कि सरस्वती अत्यन्त सरल स्वभाव वाली है तथा वह प्रत्येक पूजक की हवि को स्वीकार करती है। फलतः उसे हविष्मती कहना साभिप्राय है।

**(ग) सुदुघा :**

इस उपाधि[1] की व्याख्या विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से की गई है। दयानन्द इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं : "**(सा) (सुदुघा) कामान् वा सुष्ठु दोग्धि प्र पूरयति सा (सरस्वती) पूर्णविद्यायुक्ता।**" महीधर लिखते हैं कि सुदुघा वह है, जिसका दोहन सरल हो (**कीदृशी सरस्वती सुदुघा सुष्ठे दुग्धे सा सुदुघा साधु दोहना**)। श्री राम शर्मा आचार्य ने सुदुघा का अर्थ 'इष्ट धन को देने वाली' तथा ग्रीफिथ् ने दूध से परिपूर्ण, अर्थ किया है।

वेद में सरस्वती को milch-cow कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि वह दूध से परिपूर्ण है। इससे सरस्वती नदी के जल को नितान्त उपयोगी बताया जा सकता है अथवा स्वतः वाग्रूप से सरस्वती मनुष्यों की विभिन्न कामनाओं की जननी कही जा सकती है।

**(घ) जागृवि :**

जागृवि[2] सरस्वती की एक नितान्त महत्त्वपूर्ण उपाधि है। महीधर ने इस की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सरस्वती को जागृवि इस लिए कहा गया है, क्योंकि वह रात-दिन जागती है तथा अपने कार्य की सिद्ध करती है : "**कीदृशी सरस्वती दिवा नक्तम् अहोरात्रं जागृवि जागरणशीला स्वकार्यसिद्धावप्रमत्ता।**" दयानन्द सरस्वती इस की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि जागृवि का अर्थ अप्रमत्त है : "**जागृका कार्यसाधने अप्रमत्ता।**" उन्होंने अपने अभिप्राय की सार्थक सिद्धि के लिए सरस्वती को एक स्त्री के रूप में ग्रहण किया है, जो वैद्यकशास्त्र में निपुण है तथा विस्तृत ज्ञान से संयुक्त है : "**वैद्यकशास्त्रवित्प्रशस्तज्ञानवती स्त्री।**"

जागृवि विशेषण जिस मंत्र में सरस्वती के लिए प्रयुक्त है, वह मंत्र सरस्वती को एक चिकित्किसा के रूप में प्रस्तुत करता है। तदनुसार[3] वह इन्द्र की चिकित्सा करती है तथा अश्विन् उसकी सहायता करते हैं। **यजुर्वेद** में सरस्वती को एक चिकि-

---

१. **वही**, २०.७५

२. **वही**, २१.३६

३. तु० डॉ मुहम्मद इसराइल खाँ, **सरस्वती इन संस्कृत-लिटिरेचर** (गाज़ियाबाद, १९७८), पृ० ७५-८०

त्सिका के रूप में बहुशः चित्रित किया गया है, जिसका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है ।

**एक चिकित्सिका के रूप में सरस्वती :**

**यजुर्वेद** में सरस्वती को सौत्रामणि तथा भेषज् यज्ञों के सन्दर्भ से एक चतुर चिकित्सिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । सरस्वती के साथ अश्विन् भी उसी रूप में उपस्थित रहते हैं ।

## ३. सरस्वती तथा सौत्रामणि यज्ञ :

इस यज्ञ का सम्पादन इन्द्र (**सुत्रामन्**) के लिए हुआ था । सोम देवों का प्रिय पेय है तथा यह उनको शक्ति प्रदान करता है, जो इसको पीते हैं । इसके अधिक पान से अनेक हानियाँ होती हैं । देवों ने सोम-यज्ञ का सम्पादन इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए किया था, क्योंकि यह सोम उसका प्रिय पेय है । जब इन्द्र ने इसका अधिक पान कर लिया, तब वह बीमार हो गया तथा देवों ने उसकी चिकित्सा सौत्रामणि यज्ञ से किया ।[1] इस यज्ञ का सम्पादन इसलिए किया कि इन्द्र का सोम-कुप्रभाव दूर हो जाये ।[2] इस यज्ञ में सभी देव चिकित्सक के रूप में इन्द्र की सेवाएँ करते हैं, परन्तु सरस्वती तथा अश्विन् की सेवाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं ।[3]

## ४. सरस्वती तथा भेषज् यज्ञ :

**वाजसनेयि-संहिता** (१०.३३) पर की गई महीधर की व्याख्या से ज्ञात होता है कि नमुचि[4] नामक असुर ने इन्द्र से मित्रता की । पुनः इन्द्र के साथ विश्वासघात किया, क्योंकि छलपूर्वक उसने इन्द्र का सोम-पान कर डाला ।[5] जब इन्द्र के साथ इस प्रकार की घटना घटी, तब वह सरस्वती तथा अश्विन् के पास गया । तब सरस्वती तथा अश्विन् ने उसे गाज का विद्युदस्त्र (thunderbolt) दिया, जिस से उसने उस असुर का मस्तक भेद दिया[6] तथा अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त किया । इस प्रकार सरस्वती तथा अश्विन् ने इन्द्र को कठिनाई में अनेक सहायताएँ पहुँचाईं ।

---

१. तु० मैक्स म्यूलर, **सेक्रेड बुक्स ऑफ द इस्ट**, भाग ४२ (दिल्ली, १९६४), पृ० ३२८

२. ग्रीफिथ् की टिप्पणी **यजुर्वेद**, १९.१

३. मैक्स म्यूलर, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३२८

४. तु० ऋ० १.५३.७;२.४१.५;५.३.७-८.६;२०.६;७.१९.५;८.१४.१३

५. जे० मूर, ओरिजिनल संस्कृत टेक्ट्स, भाग ५, पृ० ९४

६. महीधर की व्याख्या **यजुर्वेद**, १०.३३

### ५. एक चिकित्सक के रूप में सरस्वती :

यजुर्वेद में सरस्वती को कई बार एक चिकित्सिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[१] इस सन्दर्भ में बताया गया है कि अश्विनों ने भेषज् यज्ञ का वितान किया, जो इन्द्र के निमित्त था (**देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजा अश्विना**) तथा सरस्वती ने इन्द्र के शरीर में शक्ति प्रदान की (**इन्द्राय इन्द्रियाणि दधतः**)।[२] उन्होंने दूध के आकार के औषध का दोहन इन्द्र के लिये किया, जिससे वह अपनी शक्ति प्राप्त कर सके।[३] **यजुर्वेद** के एक मंत्र में अश्विनों को सोम के आधान के रूप में चित्रित किया गया है। सरस्वती वहाँ एक पवित्र अग्निकुण्ड के रूप में प्रदर्शित है।[४] अश्विनों की सोम के आधान-रूप की कल्पना सङ्केतित करती है कि वे इन्द्र के शत्रुओं से सोम के आहर्ता हैं। सरस्वती को इस सन्दर्भ में अग्नीध्र कहा गया है, परन्तु यहाँ इसका तात्पर्य वाक् से जान पड़ता है, जिसका तादात्म्य यज्ञ से हो गया है।[५] एक अन्य स्थल पर सरस्वती तथा अश्विनों को सविता तथा वरुण के साथ सम्बद्ध किया गया है तथा वे सब मिलकर इन्द्र के स्वरूप को सुधारते हैं।[६] नीचे एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि किस प्रकार इन्द्र के विकृत स्वरूप का निर्माण हुआ।

(क) सरस्वती ने इन्द्र के आन्तरिक भाग का निर्माण किया।[७]

(ख) उसने अग्नि तथा नासत्या की सहायता से इन्द्र के सुन्दर शरीर का निर्माण किया।[८]

(ग) अश्विन् तथा सरस्वती इन्द्र के मुख हो गये।[९]

(घ) सरस्वती ने इन्द्र के व्यान को उपवाक से तथा बर्हिः (nose-hairs) को बदर से बनाया।[१०]

(ड़) अश्विनों ने इन्द्र के शरीरावयवों को जोड़ा तथा सरस्वती ने उन्हें संयुक्त कर दिया, जिससे उसके शरीर का ढाँचा अमर तथा सुन्दर हो सके।[११]

---

१. वही, २१.३१,३३,३६,३८,३९ इत्यादि।
२. वही, १९.१२
३. वही, १९.१५
४. वही, १९.१८
५. श० ब्रा० ३.१.४.९,१४ इत्यादि।
६. यजुर्वेद, १९.८०
७. वही, १९.८२
८. वही, १९.८३
९. वही, १९.८८
१०. वही, १९.९०
११. वही, १९.९३

(च) तब सरस्वती तथा अश्विनों ने इन्द्र के शरीर में पशुओं के तेजस् का आधान कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने बलि, मधु आदि का भी इन्द्र-शरीर में आधान कर दिया।[1]

अश्विन् तेज (प्रताप) के स्वामी कहे जाते हैं।[2] सरस्वती के विषय में कहा गया है कि उसने इन्द्र की चिकित्सा तथा उसके शरीर में बल (शक्ति) का आधान करने के लिए वाक् को कार्यान्वित किया।[3]

पहले कहा गया है कि नमुचि ने इन्द्र की शक्ति का पान कर लिया था। इस नमुचि के समान कतिपय अन्य दानव भी **ऋग्वेद** में वर्णित हैं, जो इन्द्र के शत्रु हैं। उन में से वृत्र, अहि, शुष्ण, पिप्रु, शम्बर तथा उरण मुख्य हैं। वे प्रकृति के कुछ घटनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे उन शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उपजाऊ जलों को अपने में ही घेरे रहते हैं तथा उन्हें पृथिवी पर गिरने नहीं देते हैं। उनकी ये शक्तियाँ ऐसी हैं, जो जलों को मेघों में रोके रहती हैं तथा वे उन शक्तियों के रूप में स्वयं मेघों में निवास करते हैं। उन मेघों को उन का निवास-स्थान माना गया है। इन्द्र उन के शत्रु का प्रतीक है, क्योंकि वह उनके नगरों को छिन्न-भिन्न कर देता है।[4] इन्द्र जलों का वर्षक है, अत एव वह मेघों में छिपे हुए उन शत्रुओं का हनन करता है तथा पार्थिवी नदियों को प्रवाहित करता है।[5] नदियों को प्रवाहित करने के कारण नदियाँ उसकी पत्नी-स्वरूप हैं।[6]

जल इन्द्र के प्राण हैं। इसी प्राण का दूसरा नाम शक्ति है। जल उनका प्रतिनिधित्व करते हैं तथा दानव अकाल अथवा अनावृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं।[7] जब दानव जलों को पी जाते हैं अथवा उन का अपहरण कर लेते हैं, तब वह निर्जीव हो जाता है। यहाँ इस कथन का अभिप्राय यह है कि इन्द्र की जीवन-शक्ति समाप्त हो गई है, अर्थात् मेघ-रूप से वह विकृत हो गया है। यहाँ प्रकृति-परक व्याख्या के आधार पर इन्द्र विद्युत्, प्रकाश आदि सहित मेघ का प्रतिनिधित्व करता है। अश्विन् तथा सरस्वती इसी मेघ का निर्माण करते हैं। इस घटना को एक अन्य विधि से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि दानव इन्द्र की जीवन-शक्ति के प्रकाश का अपहरण कर लेते हैं, अत एव वे दानव अन्धकार के प्रतीक हैं। इस कथन से इन्द्र का मेघ-रूप स्पष्ट हो

---

१. वही, १९.९५
२. वही, १०.३
३. वही, १९.१२
४. जे० मूर, **ओरीजिनल संस्कृत टेक्ट्स**, भाग ५ (लण्डन, १८७०), पृ० ९५-९६
५. वही, पृ० ९५-९६
६. ऋ० ५.४२.१२
७. वामन शिवराम आप्टे, **प्रैक्टिकल-संस्कृत इङ्गलिश डिक्शनरी** (पूना, १८९०), पृ० २७७

जाता है, जिसकी ओर ऊपर सङ्केत किया गया है।[1] जब इन्द्र के जीवन-शक्ति का प्रकाश समाप्त हो जाता है, तब वह दुःखों एवं निराशओं के अन्धकार से घिर जाता है। अश्विन् उस की चिकित्सा करते हैं, जिससे वह जीवन-शक्ति का प्रकाश प्राप्त करता है, अत एव अश्विनों को प्रकाश का स्वामी कहना सर्वथा युक्त है।[2]

सरस्वती इन्द्र से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है तथा यह इन्द्र मेघों तथा वर्षा का देवता है। वह सरस्वती उन मेघों में निवास करती है, जो विद्युत् से युक्त हैं तथा वर्षा करने वाले हैं।[3] ऐसे ही मेघों को सरस्वती का स्तन भी कहा गया है।[4] **यजुर्वेद** में सरस्वती को एक माँ के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है, जो अपने गर्भ में एक शिशु को धारण करती है तथा अश्विन् उस शिशु के जनक है।[5] महीधर ने सरस्वती के इस शिशु का एक भिन्न ही अर्थ किया है : **"गर्भम् इन्द्रलक्षणम्"**। यहाँ शिशु का तात्पर्य इन्द्र से है। इस प्रतिपादन के अनुसार सरस्वती इन्द्र की माँ तथा अश्विनों की पत्नी है। सरस्वती को **ऋग्वेद** में एक स्थल पर पावीरवी[6] तथा अश्विनों को तेज का स्वामी कहा गया है।[7] ये दोनों इन्द्र का निर्माण करते हैं। इन्द्र प्रताप अथवा तेज का स्वामी है। सरस्वती तथा अश्विनों की इन्द्र-सहायता इस दशा में इन्द्र को तेज-प्रदान करने में भी की जा सकती है। अश्विन् सोम-भाण्डार के रूप में भी वर्णित हैं।[8] यहाँ सोम का तात्पर्य जल प्रतीत होता है, जिसे वे उत्पन्न करते हैं तथा मेघों में सुरक्षित रखते हैं।

वेदों में सरस्वती को वाक् तथा मेघ दोनों रूपों में चित्रित किया गया है। **ऐतरेय** तथा **शतपथ ब्राह्मणों** में वर्णित है कि वाक् स्त्री-रूप में परिणत हो गई तथा सोम को वापस लाने के लिए गन्धर्वों के पास गई।[9] यहाँ यह विचारणीय बात यह है कि क्या गन्धर्व असुर तो नहीं है? अथवा वे गन्धर्व किसी प्रकार दानवों से सम्बद्ध तो नहीं हैं? यह कथन विशेष रूप से **शतपथब्राह्मण** के प्रसङ्ग में अन्वेषणीय है।

ऋक्, यजुस् तथा सामन् को भी इन्द्र की शक्ति स्वीकार किया गया है। इस

---

१. **वही**, पृ० २७७
२. **यजुर्वेद**, १०.३३
३. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, **अथर्ववेद सुबोध भाष्य**, भाग ३ (सूरत, १९५८), पृ० ४५
४. **ऋ०** १.१६४.४९
५. **यजुर्वेद**, १९.९४
६. द्र० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ४४-४६
७. **यजुर्वेद**, १०.३३
८. **वही**, १९.१८
९. द्र० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, **संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कतिपय झाँकियाँ** (गाज़ियाबाद, १९८५), पृ० १०५-१०७

सम्बन्ध में वर्णित है कि जब इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्र को मारना चाहा, तब वृत्र ने ऋक्, यजुस् तथा सामन् को इन्द्र के लिए लौटा दिया।[१] यहाँ गन्धर्व तथा वृत्र इन्द्र से सम्बद्ध हैं, परन्तु दोनों में अन्तर है। वह अन्तर यह है कि गन्धर्व सोम की रक्षा करते हैं,परन्तु वृत्र ऋक्, यजुस् तथा सामन् को चुराता है।

सरस्वती इन्द्र की चिकित्सिका हैं। इसका वर्णन ऊपर किया गया है। सरस्वती को इन्द्र की चिकित्सिका मान कर उसे एक भिन्न रूप में भी वर्णित किया जा सकता है। यह दशा सृष्टि के पूर्व की दशा को भी सूचित करतो है, जिस समय केवल अन्धकार ही अन्धकार था। अन्धकार सृष्टि की अनुपस्थिति का प्रतीक है तथा प्रकाश जीवन के अस्तित्व का प्रतीक है।[२] उस समय जब प्रजापति सृष्टि करना चाहते थे, तो उन्होंने अपने को वाक् अर्थात् सरस्वती से सम्बद्ध किया तथा उससे जलों को उत्पन्न किया।[३] यहाँ वाक् से जल की उत्पत्ति का प्रसङ्ग सरस्वती को इन्द्र की माँ घोषित करता है, क्योंकि इन्द्र जलों का स्वामी है। एक चतुर चिकित्सिका के रूप में सरस्वती इन्द्र के शरीर का निर्माण करती है तथा उसके शरीर में शक्ति का सञ्चार करती है। जल के अभाव में इन्द्र निर्जीव है तथा उसमें शक्ति तथा तेज नहीं है। सरस्वती माध्यमिक वाक् के रूप में जल-सर्जन कर इन्द्र के नाम को सार्थक बनाती है। इस प्रकार सरस्वती माता तथा चिकित्सिका के रूप में इन्द्र के शरीर का निर्माण करती है तथा उसमें शक्ति का सञ्चार करती है। **अथर्ववेद** में इसी कथा को एक भिन्न रूप में वर्णित किया गया है। यहाँ दिखाया गया है कि सरस्वती एक दुधारु गाय है[४] तथा वह इन्द्र के लिए आहार तथा पोषण प्रदान करती है।[५] इसे एक भिन्न रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है कि वाक् सरस्वती की नियन्त्रण-शक्ति है, उस का स्वभाव नहीं है तथा उसकी आरोग्यकर शक्ति की इतिश्री जल को पवित्र करने में है।[६] **शतपथब्राह्मण** के अनुसार वाक् 'आरोग्यकर शब्द' है, परन्तु वेबर ने यहाँ सरस्वती नदी का प्रसङ्ग माना है, जिस का जल शीतल है, जो अमृत तथा आरोग्यकर औषध को धारण करता है।[७] यहाँ हम सरस्वती को एक चिकित्सिका के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। सरस्वती का भारती तथा इला से गहरा सम्बन्ध है। **यजुर्वेद** के एक मंत्र में सरस्वती अश्विनों तथा इन तीनों देवियों के साथ इन्द्र की चिकित्सा करती हुई प्रदर्शित

---

१. तु० जे० मूर, **ओरिजिनल संस्कृत टेक्ट्स**, भाग ५ (लण्डन, १८७०), पृ० ३३८-३३९

२. **यजुर्वेद**, १९.१२ पर ग्रीफिथ् की व्याख्या।

३. एलान डैनिलू, **हिन्दू पालिथीज्म** (लण्डन, १९६४), पृ० २६०

४. **वही**, पृ० २६०

५. **यजुर्वेद**, २१.३४

६. **वही**, १७.३७ पर ग्रीफिथ् की टिप्पणी।

७. **वही**, १८,३७; २०.५५पर ग्रीफिथ् की टिप्पणी।

है। वह इन की सहायता से इन्द्र की अन्तरतम नाभि में शक्ति का सञ्चार करती है।[१]

## ६. सरस्वती और सारस्वत :

**यजुर्वेद** में सारस्वत का वर्णन कुछ ही मंत्रों में हुआ है। एक मंत्र[२] में सरस्वत को सारस्वत कहा गया है। महीधर इस के स्पष्टीकरण में लिखते हैं कि यहाँ 'सारस्वतग्रह' का अर्थ है अथवा यह बलि का वाचक है। वह इस के सरस्वती से सम्बन्ध को दिखाते हुए लिखते हैं : "**अभिषेचनीये सारस्वतीनाम् अपां ग्रहणमेव सारस्वतीग्रहः सारस्वतं ग्रहं गृह्णातीति तत्राऽऽम्नात् ।**" यहाँ सारस्वत का अभिप्राय सरस्वती का जल है। ग्रह का अर्थ बलि अथवा 'सोम-पात्र' है।[३] तदनुसार 'सारस्वत-ग्रह' का अभिप्राय सोम-पात्र से है, जो सरस्वती के जल से निर्मित है। इस से ज्ञात होता है कि सरस्वती का जल अत्यन्त स्वास्थ्य-वर्धक तथा शक्ति-दायक था। जल में इन गुणों के होने के कारण उन्हें सोम ही कह दिया गया है।

एक दूसरे मंत्र में यही ग्रह शब्द कर्मकारक में प्रयुक्त हैं।[४]

**उपयामगृहोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम् ।**
**एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा ॥**

महीधर इस बलम् की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : "**सारस्वतं सरस्वती-सम्बन्धि वीर्यं सामर्थ्यम् । ऐन्द्रम् इन्द्रसम्बन्धि बलम् ।**" यहाँ सारस्वत का अभिप्राय सरस्वती की शक्ति है, जिस के द्वारा इन्द्र भी अपनी शक्ति प्राप्त करता है। पहले हम ने बताया है कि सरस्वती एक दैवी चिकित्सिका के रूप में अपनी शक्ति वाक् के द्वारा इन्द्र की चिकित्सा की और उसे स्वास्थ्य-लाभ प्रदान किया। यहाँ वाक् को उस की नियन्तृ-शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। वाक् का तादात्म्य जलों से भी उपलब्ध होता है।[५] ऐसी स्थिति में जब हम सरस्वती के वाक् का प्रसङ्ग उपस्थित करते हैं और उस वाक् को जल से संयुक्त करते हैं, तब वह वाक् जल-रूप में सरस्वती का जल है, जिसे सारस्वत की संज्ञा दी गई है। इस सारस्वत को इन्द्र की शक्ति बताया गया है, ऐसी स्थिति में सरस्वती को पार्थिवी नदी न मान कर उसे अन्तरिक्ष-स्थानीय मानना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि वह वहाँ भी वाग्रूप से इन्द्र की सहायता करती है। ऐसी स्थिति में उसे माध्यमिका वाक् मानना अधिक उपयुक्त है।

---

१. वही, २१.५४

२. वही, १८.२०

३. वही, १८.१९ पर ग्रीफिथ् की व्याख्या।

४. वही, १९.८

५. ए० बी० कीथ, द रिलीजन एण्ड फिलासोफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्, भाग २ (लण्डन, १९२५), पृ० ४३८

एक दूसरे मन्त्र में सारस्वत का प्रयोग द्विवचन में हुआ है[1] :

**इषे राये रमस्व सहसे द्युम्नऽऊर्जे अपत्याय ।**
**सम्राडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥**

ग्रीफिथ् ने 'सारस्वतौ उत्सौ' का अर्थ दो उत्स किया है, जो मन तथा वाणी (Mind and Speech) हैं । महीधर ने पाठ्य की विस्तृत व्याख्या की है । "...... **सारस्वतौ सरस्वतीसम्बन्धिनौ उत्सौ उत्स्यन्दनौ कूपौ प्रवाहौ वा त्वा त्वां प्रावतां प्रकर्षेण पालयताम् । तौ चोत्सौ मनोवाचौ । शास्त्रज्ञानाय कूप इवोत्स्यन्दतीति मनः कूपः तत् प्रतिपादनं, कुर्वन्ति वाग्पि कूपः । मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येत्वौ सारस्वतावुत्साविति (७ ५.१.३१) श्रुतेः । यद्वा सारस्वतावुत्सौ ऋग्वेदसामवेदौ... श्रुतिः ऋक्साम वै सारस्वतावुत्साविति ।**"

इस विस्तृत व्याख्या के अनुसार सारस्वतौ का अर्थ प्रवाहमय दो कूप हैं अथवा वे दोनों मन तथा वाक् हैं अथवा दोनों सारस्वत् **ऋग्वेद** तथा **सामवेद** हैं ।

सरस्वती प्रारम्भ में एक नदी थी । नदी के रूप से अन्य अनेक विचार कालान्तर में उत्पन्न तथा विकसित हुए हैं, अत एव सरस्वती के अनेक रूप हैं । सरस्वान् सरस्वती से सम्बद्ध है, अत एव उसके समानान्तर इस से भी विचार उत्पन्न हुए हैं । यदि सरस्वती वाग्देवी है, या स्वतः वाक् है, तो सरस्वान् वाक् का देव है । वाक् का विस्तार **ऋग्वेद** तथा **सामवेद** है । यदि सरस्वती वाग्रूप से **ऋग्वेद** तथा **सामवेद** है, तो सरस्वान् भी वाग्रूप से **ऋग्वेद** तथा **सामवेद** है । **ऋग्वेद** को सारस्वत् कहा गया है, क्योंकि यह ज्ञान का प्राचीनतम तथा मौलिक स्रोत है । इसी सारस्वत को **सामवेद** भी कहा गया है, क्योंकि इस में भी **ऋग्वेद** के मन्त्रों की आवृत्ति है, अत एव यह उस से मूलतः भिन्न नहीं है । इस प्रकार सरस्वती तथा सरस्वान् के सारस्वत पुत्र हैं, जो **ऋग्वेद** तथा **सामवेद** हैं । सरस्वती तथा सरस्वान् को पत्नी तथा पति के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है । सरस्वान् मनस् है तथा सरस्वती वाक् है । **यजुर्वेद** में मनस् का तादात्म्य प्रजापति से प्राप्त होता है ।[2] इसी प्रजापति को **ऋग्वेद** में वाचस्पति, ब्रह्मणस्पति, ब्रह्मन् आदि नामों से पुकारा गया है ।

## ७. एक दुधारु गाय के रूप में सरस्वती :

**यजुर्वेद** में सरस्वती को अनेकशः धेनु कहा गया है । यह धेनु अधिक दुधारु है । सरस्वती का यह नाम आलङ्कारिक है । जिस प्रकार एक दुधारु गाय अत्यधिक दूध देती है तथा लोगों की उसी प्रकार सेवा करती है, जिस प्रकार माँ अपने बच्चों का पालन करती है, अत एव लोग अत्यधिक श्रद्धा के कारण गौ को माँ की संज्ञा देते हैं । सरस्वती को धेनु इस लिए कहा गया है, क्योंकि वह स्वभाव से अत्यन्त दयालु

---

१. **यजुर्वेद**, १३.३५

२. **वही**, ७.३ पर ग्रीफिथ् की व्याख्या : "The Mind : meaning Prajapati."

तथा उदार है । उसका स्वभाव अत्यन्त अनुकूल है[1] तथा वह सब के द्वारा गम्य है ।[2] **यजुर्वेद** में एक स्थल पर सरस्वती को धेनु के रूप में इन्द्र के लिए सोम-अर्पित करते हुए प्रदर्शित किया गया है : "**दुहे धेनुः सरस्वती सोमं शुक्रम् इहेन्द्रियम् ।**" यह स्पष्टतः यज्ञ का प्रसङ्ग है, जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित है तथा सोम अर्पित किया जा रहा है । यह सोम सरस्वती द्वारा अर्पित किया जा रहा है, जो सरस्वती एक धेनु-रूप में है । यहाँ सरस्वती का मधुर स्वभाव उभर कर सम्मुख आ रहा है । महीधर कहते हैं : "**किञ्च धिनोति प्रीणाति धेनुः···सरस्वती दुहे यज्ञे सोमं दुहे दुग्धे ।**" अपने मधुर स्वभाव से देवों को यज्ञ में लाती है । एक अन्य मंत्र में वर्णित है कि सरस्वती मनुष्यों की इच्छाओं को स्वर्ग तथा पृथिवी से पूरित करती है : "**रोदसी उभे दुहे कामान् सरस्वती**[3] **।**" इस पर महीधर की व्याख्या इस प्रकार है : "**उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ कामान् दुहे दुग्धे···द्यावापृथिवीभ्यां सकाशात् कामान् दोग्धि···।**"

सरस्वती समान रूप से देवों तथा मनुष्यों के प्रति उदार है । वह देवों तथा मनुष्यों की आवश्यकता के समय सहायता प्रदान करती है । जब वह देवों की सहायता प्रदान करती है, तो कतिपय अन्य देव उस का साथ देते हैं । वह इन्द्र को स्वास्थ्य-प्रद भोजन प्रदान करती है । इस कार्य में वनस्पति तथा अश्विन् उस की सहायता करते हैं । वनस्पति इन्द्र को सुरा (तरल पदार्थ) देती है तथा सरस्वती एक धेनु के रूप में अश्विनों से संयुक्त हुई इन्द्र को मधु प्रदान करती है : "**ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता । कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ।**"[4] अन्यत्र दिखाया गया है कि सरस्वती मधुर मधु प्रदान करने वाली है ।[5] सरस्वती अतीव अनुकूल है, अत एव उसे श्रद्धावश सुदुघा[6] कहा गया है (सुदुघा - साधुदोहना-महीधर) । सरस्वती की एक चिकित्सिका के रूप से इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि आपत्कालीन अवस्था में उस ने इन्द्र को एक धेनु के रूप से शुद्ध तेज तथा शक्ति प्रदान किया ।[7]

---

१. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ७४-७५
२. वही, पृ० ३१
३. यजुर्वेद, २०.५५
४. वही, २०.६५ तथा इसी पर महीधर की व्याख्या ।
५. वही, २.३४;२०.६५ पर ग्रीफिथ् की व्याख्या ।
६. वही, २०.७५
७. वही, २१.३४

—१०—

# कमल-पुष्प—कालिदास के परिप्रेक्ष्य में

## १. सामान्य परिचय :

हम भली-भाँति परिचित हैं कि संस्कृत-जगत् में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रकृति आदि काल से संस्कृत-साहित्य का अङ्ग रही है। वैदिक-साहित्य का जन्म ही प्रकृति के गोद में हुआ है। उसी प्रकार लौकिक संस्कृत में भी प्रकृति का प्रभूत वर्णन हुआ है। वैदिक तथा लौकिक साहित्य में प्रकृति अपने विभिन्न रूपों से एक विशेष प्रकार का कार्य करती रही है। वैदिक साहित्य में प्रकृति दैविक गुणों से सम्पन्न रही है, जबकि लौकिक साहित्य में प्रकृति का काव्यत्व पक्ष अधिक उभर कर सामने आया है। लौकिक संस्कृत-साहित्य में अन्य कवियों की अपेक्षा कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति को एक विशेष महत्त्व दिया है। उन्हों ने प्रकृति को मानव का एक अभिन्न अङ्ग माना है। यही कारण है कि हम कवि की कृतियों में प्रकृति को मनुष्य के दुःखों में दुःखी तथा सुखी में सुखी पाते हैं। **अभिज्ञानशकुन्तलम्** में हमें अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ कवि ने यह दिखाया है कि प्रकृति शकुन्तला के दुःख में मानव के समान दुःखी है तथा सुख में सुखी है।

कालिदास की कृतियों के अध्ययन के आधार पर यदि वनस्पति-जगत् का चित्र खींचना चाहें, तब हमें ऐसा प्रतीत होगा कि वहाँ प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कवि की दृष्टि प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों से लेकर स्थूल तत्त्वों के निरूपण तथा तत्त्वतः वर्णन में पैनी दिखाई देती है। उन्हों ने अपने ग्रंथों में कुश, कण्टक, घास, दूर्वा आदि छोटी-सी-छोटी वनस्पतियों से लेकर लताओं, वृक्षों, फलों, पुष्पों आदि का सजीव चित्र खींचा है। इन सब पदार्थों का विस्तृत विवेचन न कर प्रकृत सन्दर्भ में यह दिखाना है कि कवि ने अपने ग्रंथों में अनेक पुष्पों का वर्णन किया है। उन के प्रमुख पुष्प कमल, शिरीष, नवमल्लिका, बकुल, पारिजात, चम्पक, मन्दार, कुन्द, मधुक, तिलक, जपा, कुटज, पाटल, कुरवक, कर्णिकार, कुमुद, यूथिका, पाटल, शेफालिया आदि हैं। कवि ने इन पुष्पों में भी कमल का विशेष वर्णन किया है। उन्हों ने कमल के वर्णन के प्रसङ्ग में उस के अनेक भेदों का प्रदर्शन किया है। पुण्डरीक, कोकनद, इन्द्रीवर, अरविन्द, स्वर्ण-कमल, स्थल-कमल आदि कमल के भेद हैं। पुण्डरीक श्वेत कमल को कहते हैं। लाल कमल को कोकनद कहते हैं तथा नील कमल इन्द्रीवर कहा जाता है। अरविन्द लाल कमल का एक प्रकार है। इन कमलों के अतिरिक्त स्वर्ण-कमल का प्रयोग कालिदास ने अपने ग्रंथों में भी दिखाया है। स्वर्ण-कमल कहने का तात्पर्य सम्भवतः उस कमल से प्रतीत होता है, जो स्वर्ण के

समान पीला होता है। सामान्य-रूप से इस प्रकार के पुष्प का वर्णन कवि ने मानव-सम्बन्धों में नहीं किया है, क्योंकि श्वेत, नील, लाल तथा गुलाबी कमलों का वर्णन कवि ने मानव के संसर्गों तथा सम्बन्धों में दिखाया है। कवि ने अपने काव्य **रघुवंश** में एक स्थल पर शरद् का वर्णन किया है तथा उस सन्दर्भ में रघु के उजले छत्र की उपमा पुण्डरीक से ही है : "**पुण्डरीकातपत्रस्तं विकासत्काशचामरः**, (रघु० ४.१७)। इसी प्रकार नील कमल का वर्णन कवि ने नेत्र की उपमा के प्रसंग में किया है। उदाहरणस्वरूप वे **ऋतुसंहार** में कहते हैं कि : "**विकचकमलवक्त्रा फुल्लनीलोत्पलाक्षी**" (ऋ० सं० ३.२४)। इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि मुख की उपमा कमल से तथा नील कमल की उपमा नेत्र से दी जा सकती है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि श्वेत अथवा लाल कमलों से ही मुख की उपमा युक्त हो सकती है। निःसन्देह ऐसे प्रयोग ही कालिदास की कृतियों में मिलेंगे।

सुवर्ण कमल पीला होता है। इस से शरीर की उपमा ठीक बैठती है। यही कारण है कि कुछ हिन्दी के कवियों ने शरीर को पीत वर्णन का दिखाया है। उन्हों ने राधा के शरीर को पीला दिखाया है और श्रीकृष्ण का शरीर तो श्याम है ही। उन्हों ने उन दोनों के सम्पर्क से इन्द्र-धनुष के रङ्ग की छटा दिखाई है। कालिदास ने भी सुवर्ण-कमल को लेकर इस से शरीर की उपमा दिखाई है। उन्हों ने स्वर्ण-कमल को आकाश-गङ्गा अथवा देवताओं के गृहों में विशेष रूप से दिखाया है। वह **उत्तर-मेघ** में कहते हैं :

**वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा।**
**हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः॥**

**उ० मे० १६**

भाव यह है कि यक्ष का घर है। उस में एक वापी है, जो मरकत मणि की शिलाओं से बद्ध सोपान वाली है तथा उस में वैदूर्य मणि के समान नालों वाले कमल खिलते हैं, जो हेम अर्थात् स्वर्गिम होते हैं। इसी प्रकार कवि ने सुवर्ण-कमल से पार्वती के शरीर की उपमा दी है। एक स्थल पर पार्वती को **कुमारसम्भव** में तपस्या करते हुए दिखाया गया है तथा कहा गया है कि पार्वती इस कारण से मुनि-व्रत को कर सकीं, क्योंकि उन का शरीर पुष्प के समान कोमल था तथा सुवर्ण के समान कठोर था :

**क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत।**
**ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च॥**

**(कु० स० ५.१९)**

जब हम कमल को लेकर कालिदास के ग्रंथों का अवलोकन करते हैं, तब देखते हैं कि उन्हों ने कमल को अनेक प्रसङ्गों में प्रस्तुत किया है। उन्हों ने उस के अनेक रूपों का प्रस्तुतीकरण किया है, जो एक विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है।

## २. कमल का धार्मिक महत्त्व :

पुष्पों का धार्मिक कार्यों में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रयोग होता रहा है। इसके अतिरिक्त पुष्पों के अन्य अनेक प्रयोजन हैं। हम यहाँ संक्षेप में केवल इतना ही कहेंगे कि पुष्पों का प्रयोग आभूषण के रूप में होता रहा है। जैसे फूलों को माला के रूप में पहनना, कर्णाभूषण बनाना, पुष्पों से रङ्ग निकालना तथा वस्त्रों को रंगना, पुष्पों को खाना, देवार्चना में प्रस्तुत करना आदि। कालिदास ने पुष्पों को भक्षण के अतिरिक्त अन्य सभी प्रसङ्गों में प्रस्तुत किया है, परन्तु उन सभी प्रसङ्गों को प्रकृत सन्दर्भ में प्रस्तुत करना उचित नहीं प्रतीत होता है। यहाँ कुछ धार्मिक प्रसङ्गों को प्रस्तुत करना पर्याप्त है। हम ने ऊपर कहा है कि प्राचीन काल में पुष देवार्चन में प्रयुक्त होते थे। कालिदास ने भी इस का प्रसङ्ग उपस्थित किया है। उन्हों ने **कुमारसम्भव** में एक स्थान पर दिखाया है कि ऋषिगण हिमालय में निवास करते हुए वहाँ के तलाबों में खिलने वाले कमल के पुष्पों को पूजा के लिए तोड़ते हैं (**द्र० कुमारसम्भव** १.१६)। सामान्यतः कमल-पुष्प पूजा की सामग्री नहीं है। सम्भवतः इस का सहज-रूप से प्राप्त न होना मुख्य कारण प्रतीत होता है, आज कमल-पुष्पों से घरों को सजाते हैं तथा उस के जड़ को पका कर सब्जी के रूप में खाते हैं।

कमल लोक की सृष्टि से सम्बद्ध है तथा इस का कतिपय देवों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मा तथा विष्णु इस से मुख्य रूप से सम्बद्ध हैं। कालिदास ने कमल को इन दोनों प्रसङ्गों में प्रस्तुत किया है। पुराणों में दिखाया गया है कि विष्णु शेषशायी हैं तथा उन के नाभि से एक कमल-नाल प्रभूत होता है तथा उस नाल से विकसित कमल से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। कालिदास पुराणों से प्रभावित हैं और यही कारण है कि उन्हों ने इस पौराणिक सन्दर्भ का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है। उन्हों ने **रघुवंश** के त्रयोदश सर्ग में विष्णु के नाभि से निकले हुए कमल से ब्रह्मा के उत्पन्न होने का सङ्केत किया है (रघु० १३.६)। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का भी कमल से सम्बन्ध पुराणों में वर्णित है और कालिदास ने भी लक्ष्मी को कमल से सम्बद्ध दिखाया है। वह इस सन्दर्भ में **रघुवंश** में कहते हैं कि जब ऋषि-गण रावण के अत्याचार से घबरा गये और विष्णु के पास पहुँचे, तब उन्हों ने विष्णु के समीप कमलासना लक्ष्मी को देखा (रघु० १०.८)।

पुराणों के अनेक विषय प्रतीकात्मक हुआ करते हैं और यही बात वेदों में भी पाई जाती है। इस कारण प्रकृत विषय में यह नितान्त अपेक्षित है कि कमल का एक अलौकिक विवेचन प्रस्तुत किया जाय। तत्वज्ञों का कथन है कि कमल के पत्ते प्रकृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। केसर परिवर्तन या विवर्त हैं तथा इस का नाल चेतना का प्रतीक है। इस प्रकार सम्पूर्ण कमल विश्व का प्रतिनिधित्व करता हे। (डॉ० जनार्दन मिश्र, **भारतीय प्रतीक विद्या**, पृ० ५१)।

इ० पी० हवेल ने कुछ वस्तुओं का प्रतीकार्थक रूप देते हुए कमल के भी प्रतीक रूप को प्रस्तुत किया है। उन के शब्दों का अर्थ इस प्रकार है : "अरबों

का धार्मिक आदर्श और दर्शन कोणवाले मेहराब में एकत्रित था। मुसलमानों के लिए जो मेहराब है, हिन्दुओं तथा बौद्धों के लिए वही कमल है। तालों के प्रशान्त काले जल पर तैरते हुए और झिलमिलाते हुए कमल प्रभात काल में बाल-सूर्य की किरणों के प्रथम स्पर्श से उन के असंख्य दलों का खिल पड़ना और सूर्यास्त के समय फिर बन्द हो जाना और नीचे कोष में छिपे कुन्द में सृष्टि का पूर्ण प्रतीक दिखाई पड़ता है। इस में आकाश की स्थिरता में अन्धकारमय शून्य की विसृष्टि से सृष्टि की दिव्य पवित्रता और सुन्दरता थी। उन के लाल, उज्ज्वल और काले वर्ण त्रिमूर्ति के प्रतीक थे, जो एक के ही तीन रूप थे। लाल-ब्रह्मा, स्रष्टा, उजला शिव परमात्मा, नीला विष्णु, जगत् के त्राता। घण्टे के आकार का पुष्कर रहस्यमय हिरण्यगर्भ था, जो जगत् का उत्पत्ति-स्थान है और जिसमें अज्ञात अनेक जगत् के बीज पड़े हुए हैं। कमल देवताओं का आसन और पाद-पीठ था, जो जड़ जगत् और अण्डकराह का प्रतीक है। यह सारे हिन्दू धर्म का उसी प्रकार प्रतीक था, जिस प्रकार इस्लाम के लिए मेहराब था।" (डॉ० जनार्दन मिश्र, **भारतीय प्रतीक विद्या**, पृ० ५२)।

विष्णु का सर्वप्रथम कमल से सम्बन्ध सात्त्विक पुराणों में दिखाया गया है। उसी प्रकार राजस पुराणों का ब्रह्मा से सम्बन्ध हैं। वस्तुतः सात्त्विक पुराण विष्णु को ब्रह्मा या परमात्मा मानते हैं तथा राजस पुराण ब्रह्मा को उसी ब्रह्म अथवा परमात्मा का व्यक्त रूप मानते हैं। इस का भाव यह है कि ब्रह्म ही सृष्टि की इच्छा से व्यक्त रूप धारण कर कार्य ब्रह्म बनते हैं, जो ब्रह्मा हैं। यह ब्रह्मा भी कमल से सम्बद्ध हैं। ब्रह्मा या तो कमल पर बैठते हैं या हंस पर आरूढ होते हैं। कमल पर बैठने के कारण ब्रह्मा की एक उपाधि कमलासन भी है और वह कमल से उत्पन्न हुए हैं, अत एव वह अब्जयोनि भी कहलाते हैं।

लक्ष्मी तथा विष्णु के समान ब्रह्मा कमल से सम्बद्ध हैं, अत एव यहाँ यह अपेक्षित है कि कमल का अलौकि रूप ब्रह्मा के सम्बन्ध से जान लिया जाय। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** का कथन है कि जो कमल विष्णु की नाभि से निकला हुआ है, वह पृथिवी का प्रतीक है तथा कमल-नाल मेरु पर्वत का प्रतिनिधित्व इस कार्य में करता है कि पर्वत स्थिरता को व्यक्त करता है। इस प्रकार ब्रह्मा जिस कमल पर बैठते हैं, वह लाल वर्ण वाला है अथवा श्वेत वर्ण वाला है। यह लाल वर्ण रजोगुण का प्रतिनिधित्व करता है तथा स्वच्छ वर्ण शुद्धता का प्रतीक है। भाव यह है कि ब्रह्मा सृष्टि कर्त्ता हैं, जिस में रजस् गुण प्रधान होता है। ब्रह्मा अपने स्वच्छ कमल के माध्यम से सतोगुण प्रधान ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप है, अत एव वह नितान्त शुद्ध है। कथन भी है कि **'सत्त्वं ज्ञानं ब्रह्म'**।

—११—

## नाट्य के वैदिक स्रोत

भारतीय संस्कृति का बड़ा ही विस्तृत अर्थ है। इस की अनेक विशेषताएँ हैं तथा उण में से एक विशेषता इस की अटूटता है, जो वैदिक काल से अब तक अजस्र रूप में चली आ रही है। भारतीय संस्कृति पर किसी बाह्य संस्कृति का प्रभाव नहीं है, क्योंकि इस की अपनी भौतिक उत्पत्ति, विकास तथा चरमावस्था की विशेषताएँ हैं, जो कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती हैं।[१] भारतीय संस्कृति के समान भारतीय साहित्य की भी यही दशा है,[२] क्योंकि इस विद्या में भी वर्तमान तथा प्राचीन परम्पराओं का अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। हमारा भारतीय नाट्य भी भारतीय साहित्य का एक अङ्ग है। इस की भी अपनी अनूठी विशेषताएँ हैं। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि भारतीय साहित्य का यह मनोहारी भाग निरन्तर उत्पत्ति, परिवर्तन तथा विकास की दशा में रहा है। आज इस का जो रूप हमारे सम्मुख है, वह आदि में वैसा ही नहीं था। इस की प्रारम्भावस्था उत्पत्ति की दशा से विकास की ओर उन्मुख दिखाई देती है। इस के बीज **वेद**, **ब्राह्मण**, आरण्यक, **उपनिषद्**, **गृह्यसूत्र**, **महाभारत** आदि में उपलब्ध होते हैं। तदनन्तर भरत का **नाट्यशास्त्र** हमारे सम्मुख आता है, जो नाट्य-साहित्य के इतिहास में प्रथम शिलास्तम्भ है। इस में नाट्य की सभी विधाओं का समावेश है। इस के अतिरिक्त इस में अन्य अनेक शास्त्रों तथा विद्याओं का ज्ञान निहित है। पाणिनि के **अष्टाध्यायी** के बाद सूत्रसाहित्य का यह आदि प्रामाणिक ऐसा ग्रंथ है, जो सूत्रशैली में लिखित है तथा उत्तरवर्ती नाट्य के शास्त्रीय ग्रंथों का स्रोत है।

भरत ने इस **नाट्यशास्त्र** में भारतीय नाट्य की उत्पत्ति के लिए परम्परा-प्राप्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, परन्तु सभी विद्वान् इस सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं करते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि नाट्य कला दैवी उत्पत्ति का परिणाम है। इस सिद्धान्त के अनुसार विदित होता है कि नाट्य कला ईश्वरीय उपहार के रूप में एक ही समय में सैकड़ों रूपों में सैकड़ों स्थलों पर अवतरित हुई। वस्तुतः इस सिद्धांत में कुछ दोष हैं, अत एव हम तटस्थ हो जाते हैं तथा इस सुन्दर एवं मनोहारी कला की उत्पत्ति तथा विकास की दशा के अन्वेषण में उदासीन हो जाते हैं।

---

१. एस० एन० दासगुप्ता, **अ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटिरेचर क्लासिकल पीरियड**, भाग १ (कलकत्ता, १९६२), पृ० ९३ (भूमिका भाग)

२. आई० शेखर, **संस्कृत-ड्रामा : इटस् आरिजन एण्ड डेक्लाइन** (लीडेन, १९६०), पृ० १

वेद भारतीय विचारों के स्रोत हैं। वेदों में **ऋग्वेद** प्राचीनतम है। सामान्यतः लोगों का विचार है कि इस वेद में सभी ज्ञानों की अपार राशि है। कोई भी साहित्य या ज्ञान चाहे वह कला हो, धर्म हो, औषध, गणित, नियम, जोतिष आदि सम्बन्धी हों, सभी इस वेद से प्रभावित हैं। प्रायः सभी सामान्य भारतीय वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हैं।[1] भारतीयों में एक सामान्य विचार-धारा यह उत्पन्न हुई है कि वे प्रायः सभी ज्ञानों के स्रोत को वेदों में ढूँढते हैं, क्योंकि वे सभी ज्ञानों के भाण्डार हैं।[2] इस विचार धारा तथा अन्वेषण के कारण सुन्दर परिणाम निकले हैं, परन्तु अनुचित अनुमान की सम्भावना सतत् बनी रही है। इस में तनिक भी संदेह नहीं है कि **ऋग्वेद** एक ऐसा विश्व-कोश हे, जिस ने परवर्ती साहित्य को नितान्त प्रभावित किया है। यहाँ हमें नाट्य का स्रोत ढूँढना अपेक्षित है, अत एव यह उचित प्रतीत होता है कि वैदिक युगीन मनोविनोद के साधनों पर विचार किया जाय।

## १. वैदिक कालीन मनोविनोद के साधन :

मनोविनोद के साधन भिन्न-भिन्न समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं। एतत्सम्बन्धी आधुनिक पद्धतियाँ अति प्राचीन काल में नहीं थीं तथा प्राचीन काल के साधनों के रूप आज उसी रूप में नहीं हैं, क्योंकि उन में परिवर्तन आ गये हैं। इस सम्बन्ध में यह अपेक्षित जान पड़ता है कि हम वैदिक समाज का ज्ञान प्राप्त कर लें। इस का ज्ञान हमें सहायता पहुँचायेगा और हम जान सकेंगे कि उस समय के साधन विकसित थे अथवा अविकसित थे।

मनुष्य-समुदाय से समाज विकसित होता है। इस समुदाय में विभिन्न प्रकार के मनुष्य होते हैं। यह समाज सभ्य, असभ्य, शिक्षित, अशिक्षित, मानसिक स्तर पर बढ़े हुए, मानसिक स्तर पर गिरे हुए, आध्यात्मिक, वनचर आदि के स्तर के लोगों से निर्मित होता है। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज केवल ऋषियों से निर्मित नहीं था, अपितु वह आदिम, औसत तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों से बना हुआ था। हम आधुनिक युग में देखते हैं कि वस्तु का मूल्य या स्वरूप मनुष्य की सामाजिक दशा पर निर्भर होता है। वैदिक समाज के प्रति भी यही बात कही जा सकती है। हम यहाँ नाट्य-कला पर विचार कर रहे हैं, अत एव इस का स्वरूप उपर्युक्त प्रसङ्ग में वैदिक सन्दर्भ में देखना चाहते हैं। सच तो यह है कि यह कला सहसा मानवों को प्राप्त नहीं हुई है। इस का विकास शनैः शनैः हुआ है। यह कला वैदिक समाज की आदिम अवस्था में प्रारम्भिक अवस्था में आदिम लोगों में उपलब्ध होती है। इतना होते हुए भी विद्वानों में इस सम्बन्ध में मत-वैभिन्य है।

---

१. मैक्स मूलर, द वेदाज (कलकत्ता, १९५६), पृ० १२

२. वही, पृ० १५

**ऋग्वेद** का पाठ्य बड़ा गूढ तथा रहस्यमय है ।[1] इसी कारण अनेक भ्रान्तियाँ प्रकृत सन्दर्भ में पाई जाती हैं । नाट्याचार्यों में इस विषय में मत-भेद पाया जाता है कि वेदों में अभिनीत नाट्य का अस्तित्व था अथवा नहीं । आज नाट्य के मुख्य दस भेद हैं तथा वे नाटक, प्रकरण, भाण, ईहामृग, डिम, अङ्क, समवकार, वीथी, प्रहसन तथा व्यायोग हैं ।[2] कुछ विद्वानों का मत है कि स्वतः **ऋग्वेद** में प्रहसन तथा भाण के प्राचीनतम रूप मिलते हैं,[3] परन्तु इस की पुष्टि आधुनिक परिभाषा से घटित नहीं होती है[4], क्योंकि प्रहसन तथा भाण नाट्य के अत्यन्त स्पष्ट तथा व्याख्यायित रूप हैं जिन का अति प्राचीन काल में होना नितान असम्भव तथा असङ्गत प्रतीत होता है । कुछ लोगों का विचार है कि ऋग्वेदिक काल में प्रहसन के अस्तित्व की प्रतीति सोम-यज्ञ में होती है, परन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इस का खण्डन करते हैं । उन का कथन है कि सोम-यज्ञ में प्रहसन नहीं था, अपितु उस में धार्मिक विधि-सम्बन्धी नाट्य था । जहाँ तक भाण का प्रश्न है, इसे भी **ऋग्वेद** में नहीं माना जा सकता । भाण एकांकी नाट्य है, जिस में एक पात्र पाठ को लेकर बात-चीत करता है । वस्तुतः **ऋग्वेद** में स्वगत-भाषण **अक्ष-सूक्त** में उपलब्ध होता है, परन्तु वह शुद्ध भाषण आधुनिक नाट्य-परिभाषा में नहीं है, अत एव भाण की संज्ञा उसे तथा अन्य स्रोतों को नहीं दी जा सकती । इस में नाट्य का तत्त्व तो है, परन्तु यह अभिनीत नाट्य न होने के कारण भाण नहीं है । वस्तुतः जहाँ **ऋग्वेद** में स्वगत-भाषण-सम्बन्धी सूक्त हैं, उन में आधुनिक भाण के बीज निहित हैं । ऐसी स्थिति में यह नितान्त आवश्यक है कि संस्कृत-नाट्य के वैदिक स्रोतों का अन्वेषण किया जाये ।

यह सामान्यतः विश्वसित है कि नाट्य का आधुनिक स्वरूप प्राचीन काल में नहीं था । भरत नाट्य तथा नाट्य-सिद्धान्त के आदि प्रणेता हैं । उन के **नाट्यशास्त्र** में नाट्य-सिद्धान्तों का पूर्ण प्रतिपादन है । वहाँ नाट्य के परम्परागत-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा नाट्य की उत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है :

---

१. तु० श्रीअरविन्दो, **ऑन दि वेद** (पाण्डिचेरी, १९५६)

२. **दशरूपक**, १.११

३. इ० वी० हारवित्ज़, **दि इण्डियन थियेटर** (लन्डन, १९१२), पृ० १७३, फूटनोट १

४. प्रहसन तथा भाण की परिभाषा देखें :

"The Prahasan is a one act farce, which deals with rouguery of low characters and very often takes a satirical turn. Similary, the Bhana is also an one-act play with only one hero-actor with erotic theme. It is followed by monologue, where answers of the character are in queries by Cunseen."

**जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च।**
**यजुर्वेदादभिनयान्रसानथर्वणादपि ॥[1]**

इस कारिका से ज्ञात होता है कि **नाट्यवेद** को ब्रह्मा ने बनाया। एतदर्थ उन्हों ने पाठ को **ऋग्वेद** से लिया। साम, अभिनय तथा रस को **सामवेद, यजुर्वेद** तथा **अथर्ववेद** से लिया। इसके अतिरिक्त नाट्य के प्रसङ्ग **अष्टाध्यायी, महाभाष्य, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, कामसूत्र तथा पुराणों** में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। **महाभारत** में अनेक नाट्य के पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं, जो अत्यन्त स्पष्ट तथा परिभाषित हैं। इसके अतिरिक्त हमें यह भी ज्ञात होता है कि नाट्य के अभिनय के लिए वहाँ एक रङ्गशाला थी, जिस का निर्माण कंस ने कराया था।

जहाँ तक अभिनेय नाट्य का प्रश्न है, यह **ऋग्वेद** में उपलब्ध नहीं होता है, परन्तु इस से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस समय के लोग नाट्य के मनोरम अंश से परिचित थे। नृवंशविद्या से ज्ञात होता है कि नृत, गीत तथा सङ्गीत अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं से आदिम वासियों में वर्तमान थे। प्रायः वे अपने विचारों को इन्हीं के माध्य से अभिव्यक्त किया करते थे। मानव-समाज का यह एक मान्य सिद्धान्त है कि सभ्य मनुष्य अपने विचारों को बोल कर प्रकट करता है। इसके विपरीत जो लोग असभ्य अथवा आदिम अवस्था में होते हैं, वे अपने विचारों को शारीरिक चालनों से अभिव्यक्त करते हैं। ऋग्वैदिक समाज प्रारम्भ में अधिकतर आदिम वासियों से निर्मित था। यही कारण है कि नृत्, गीत तथा सङ्गीत की कला उन्हीं के द्वारा विकसित हुई। संस्कृत-नाट्यों में नृत्, नृत्य, गीत, सङ्गीत आदि उस के अङ्ग अथवा उपकारी बन गये हैं, परन्तु अति प्राचीन काल में वे नितान्त स्वतन्त्र अङ्ग थे। कहा जाता है कि नृत्य-कला सर्वप्रथम पृथिवी पर आई तथा यह सभी कलाओं, धर्म तथा शृङ्गारों की माँ है।[2] यह कथन हमें यह मानने के लिए विवश कर देता है कि नृत्, गीत तथा सङ्गीत नाट्य के पूर्ववती हैं, चाहे ये प्रारम्भ में असभ्य, मौन, अनुकरणात्मक आदि ही क्यों न रहे हों।

---

१. **ना० शा० १.१७**

२. तु० आई० शेखर, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० १४ (भूमिका भाग)
"Thus, dance is a great mother of art, religion and erotics. She, perhaps, tore herself away as soon as she noticed her child, drama, capable of standing on its own legs. It is no use speculating as to when and where she landed first. She came to mankind in a hundred forms and at a hundred places. All we know is that as soon as the curtain of obscurity is lifted historic man emerges already possessed of a certain degree of culture and civilized customs. And the moment, he steps into light, brings dance and dramatic recital with him."

संस्कृत-नाटच बहुत समय तक अस्पष्टता की गोद में ढँका रहा है। इस की उत्पत्ति तथा विकास के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, अत एव भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का जन्म हुआ। नाटच की उत्पत्ति तथा विकास में नृत, गीत, सङ्गीत आदि का महत्त्वपूर्ण योग है। प्रकृत प्रसङ्ग में यह जानना अपेक्षित है कि ऋग्वैदिक काल में नृतादि तत्त्वों अथवा कलाओं की क्या स्थिति थी।

नाटच अनुकर्त्ताओं द्वारा अभिनीत होता है। नाटच में अनुकर्त्ता के लिए नट शब्द का प्रयोग मिलता है तथा यह नट√नट् से बना है, जिस का अर्थ नाचना अथवा सिद्ध करना है। नट के विना नाटच की कल्पना असम्भव है।[1] पुनः नर्तक तथा नर्तन पर विचार करना आवश्यक है। ये दोनों शब्द नृत् धातु से निष्पन्न हैं, जिस का अर्थ नाचना अथवा अनुकरण करना है।[2] इन अर्थों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन शब्दों के अर्थों में अत्यन्त सन्निकटता है, अत एव नट तथा नर्तक परस्पर सम्बद्ध हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि **ऋग्वेद** में नट तथा नर्तक शब्दों का प्रयोग नहीं है, परन्तु नृतये, नृतवः, नृतुः और नृतू के प्रयोग **ऋग्वेद** में उपलब्ध होते हैं।[3] निस्संदेहतः ये शब्द नृत् से बने हैं। इन शब्दों की एक दूसरी विशेषता यह है कि ये शब्द **ऋग्वेद** के अन्तिम मण्डलों में उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के रूप में इन का प्रयोग ६, ८ एवं १० मण्डलों में प्राप्त होता है। इस से कुछ विद्वान् अनुमान लगाते हैं कि **ऋग्वेद** के प्रारम्भिक भागों में नाटच-तत्त्व नहीं हैं, परन्तु उन का अन्वेषण पश्चिम भागों में किया जा सकता है।

वस्तु-स्थिति यह है कि **ऋग्वेद** में अभिनेय नाटच का कोई सीधा प्रसङ्ग उपलब्ध नहीं होता है। **मैत्रायणी-उपनिषद्**[4] में नट का वर्णन मिलता है, जिसे कृष्णवेशः कहा गया है। इस से ज्ञात होता है कि इस **उपनिषद्** के समय तक नाटच कुछ विकास में आ चुका था तथा इस की सिद्धि के लिए अनुकर्त्ता कृष्ण वस्त्रों को धारण करता था। इस के अतिरिक्त इस से उस समय के वेश-भूषा पर भी प्रकाश पड़ता है। इस से पहले **ब्राह्मण-ग्रंथों** में नाटच सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त स्पष्ट तथा सुविश्लेषित हैं। इस प्रसङ्ग में कुछ ब्राह्मणों का नाम लिया जा सकता है। **शतपथ-ब्राह्मण** में एक विद्या का प्रसङ्ग वाकोवाक्य का आता है तथा सायणाचार्य ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है: **"उक्तिप्रयुक्तिरूपं प्रकरणं वाकोवाक्यम्**[5]**।"** गेल्डनर ने इसे नाटच-सम्वाद की संज्ञा दी है। इस के अतिरिक्त **कौषीतकि** तथा **तैत्तिरीय** ब्राह्मणों

---

१. सर मोनियर विलियम्स, **अ संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी** (आक्सफोर्ड, १८७२), पृ० ४६६

२. **वही,** पृ० ४७१, ५१५

३. **ऋ०** ६.६३.५; ८.२०.२२, ९२.३; १०.१८.३

४. **मैत्रायणी-उपनिषद्**, ४२

५. **शतपथ-ब्राह्मण,** ४.६.९.२०; ११.५.६.८

में भी नाटच के प्रसङ्ग कुछ स्पष्टतर रूप में उपलब्ध होते हैं। **कौषीतकि-ब्राह्मण** में एक स्थान पर शिल्प का प्रयोग है, जिस के अन्तर्गत नृत्य, गीत तथा सङ्गीत का समावेश है।[१] इन कलाओं का अधिक सीमा तक सम्बन्ध नाटच से है। **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** में एक विद्या में निष्णात मनुष्यों की सूची प्राप्त होती है, जिस में आयोगू, मागध, सूत, शैलूष आदि का समावेश है। यहाँ वीणा को भी एक समुचित स्थान मिला हुआ है।[२] इन ब्राह्मणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणिक काल में संस्कृत-नाटच एक कला के रूप में विकसित हुआ। वर्तमान काल में संस्कृत-नाटचों में सूत शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसे सामान्यतः सूत्रधार कहते हैं। यह नाटच के चरित्रों में एक प्रमुख पात्र है। इस के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आधुनिक सूत की उत्पत्ति में ब्राह्मणिक सूत का हाथ है। इस से यह भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मणिक काल में अभिनेय नाट्य थे, जिन का सञ्चालन सूतों की देख-रेख में होता था। ये सूत दीक्षित अनुकर्त्ता रखते थे, क्योंकि मागध तथा आयोगू इन अनुकर्त्ताओं के लिए प्रयुक्त हैं। नाट्य को नर्तक, गायक तथा सङ्गीतज्ञ की भी आवश्यकता होती है। सम्भवतः ब्राह्मणिक शैलूष से इन्हीं की ओर सङ्केत किया गया है।

**सामवेद** का संस्कृत-नाट्य-कला के लिए महत्त्वपूर्ण देन है। यह तथ्य स्वतः **नाटचशास्त्र** से प्रमाणित है।[३] **यजुर्वेद** में भी नाट्य की उत्पत्ति तथा विकास से सम्बद्ध प्रभूत सामग्रियाँ हैं। **यजुर्वेद-संहिता**[४] के एक मंत्र में भिन्न-भिन्न व्यवसाय द्वारा जीविका चलाने वालों का वर्णन है। उन्हीं में सूत तथा शैलूष भी परिगणित हैं, जिन का सम्बन्ध नाट्य से है। ऐसी स्थिति में इस मंत्र का महत्त्व विभिन्न दृष्टिकोणों से है। इस से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में विभिन्न व्यवसाय अनुकूल परिस्थितियों के अनुसार फल-फूल रहे थे। प्रत्येक को समान सुअवसर मिला हुआ था, अत एव नाट्य-कला भी फूली तथा फली।

ऊपर **यजुर्वेद**, **सामवेद**, तथा **ब्राह्मणों** के सन्दर्भ में अतिसंक्षिप्तता के साथ नाट्य पर विचार किया गया है। इस से प्रोत्साहन मिलता है कि हम ऋग्वैदिक कालीन नाट्य-तत्त्व पर विचार करें तथा ठीक-ठीक दशा का पता लगाएँ। इस का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है।

यह सामान्यतः विश्वसित है कि नृत्य-कला ऐतिहासिक मनुष्यों के साथ पृथिवी पर उतरी। नृत्य एक ऐसी कला है, जिसे समान-रूप से देव तथा मनुष्य पसन्द करते हैं। **ऋग्वेद** में इस के अनेक प्रमाण हैं, जिन से ज्ञात होता है कि देव एवं मानव इस मनोहारी कला के समानतः प्रसन्न हुए। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए जा

---

१. **कौषीतकिब्राह्मण**, २४.५;१९.५

२. **तैत्तिरीयब्राह्मण**, ३.४.१.१५

३. **ना० शा०**, १.१७

४. **यजुर्वेद**, ३०.६

रहे हैं। **ऋग्वेद** में उषा-सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। उषा संध्या (रात्रि का अन्त तथा दिन का प्रारम्भ) की पुत्री है। उसे कवित्व-शक्ति तथा मानसिक सम्पदा से परिपूर्ण कहा गया है। वह पृथिवी पर नाचती हुई एक कन्या के रूप में आती है। उस का गमन नाट्य-गति के समान है। वैदिक ऋषि उस के कार्य से इस प्रकार प्रभावित हैं कि वे उस की तुलना एक नृत्य करती हुई कन्या से करते हैं।[१] सचमुच उषा देवी तेज तथा प्राण की प्रतिमूर्ति है। यही कारण है कि उस का पृथिवी पर आना सचमुच नृत्य का अवतरण ही है। इस की यह मुद्रा सचमुच ऋषियों को भाई होगी, क्योंकि इस की स्पष्ट झलक सूक्तों से मिलती है। इस से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऋषियों के मन में नृत्य तथा नृत्य करती हुई कन्या की परिकल्पना अवश्य पहले से रही होगी। इस से नृत्य का अस्तित्व पूर्व-स्थित ज्ञात होता है, अर्थात् यह पता चलता है कि ऋग्वैदिक समाज में नृत्य का प्रचलन किसी न किसी स्तर पर अवश्य समाज में था। स्वतः कुछ अवलोकनों से इस की पुष्टि होती है। उदाहरण के रूप में **'समन'** एक पर्व है, जो ऋग्वैदिक काल में प्रचलित था तथा जिसे **महाभारत** में समज्जा की संज्ञा दी गई है। यह उत्सव एक ग्रीक उत्सव के समकक्ष है, जिस में युवतियाँ अपरिचित व्यक्तियों से स्वेच्छानुसार मिल सकती हैं।[२] समन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। रॉथ तथा विशेल इसे भिन्न-भिन्न स्वरूपों में स्वीकार करते हैं।[३] यदि विद्वानों के मतों का विवेचन किया जाये, तो ज्ञात होगा कि अधिकतर विद्वान् इसे एक पर्व के रूप में स्वीकार करते हैं, जिस में युवक, युवतियाँ, पुरुष, स्त्रियां, धनुर्धारी आदि रुचि लेते हैं।[४]

सायण ने समन का अर्थ युद्ध अथवा यज्ञ किया है। यदि इस शब्द का अर्थ युद्ध है, तब यह शब्द 'समण' के निकट जान पड़ता है, क्योंकि समण समर का ही एक रूप है, जिस का अर्थ युद्ध-क्षेत्र होता है। सम्भव है कि समर पहले किसी स्थान का वाचक था, जहाँ लोग वाद-विवाद अथवा सामाजिक उद्देश्य से मिलते थे। इसी तरह

---

१. ऋ०, १.९२.४

२. तु० मैक्डानेल एण्ड कीथ, **वैदिक इण्डेक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स**, भाग-२ (दिल्ली, १९५८), पृ० ४२६, फूटनोट १३

३. **वही**, पृ० ४२६

४. **वही**, पृ० ४२६
रॉथ तथा विशेल ने इस शब्द का अर्थ क्रमशः 'युद्ध अथवा पर्व' और 'सामान्य रुचि का उत्सव' किया है। **ऋग्वेद** में यह शब्द अनेक रूपों में प्रयुक्त है। द्र० समनम् (१.४८.६;१०.६१.११, ४६.१०, १६८.२); समन (६.७५.५; ९.९६.९); समनेषु (१०.१०७.११)। **सायणाचार्य** ने सामान्यतः इस शब्द का अर्थ युद्ध अथवा यज्ञ किया है। विशेष ज्ञान के लिए द्र० शकुन्तला राव शास्त्री, **वीमेन इन द वैदिक एज** (बम्बई, १९५८), पृ० ५-१०

समन भी एक ऐसा स्थान था, जहाँ विशेष-रूप से युवक तथा युवतियाँ तत्कालीन सामाजिक नियमानुसार मिला करते थे। उस स्थल पर युवतियों को नाचने तथा गाने की अनुमति थी तथा युवकों को यह अधिकार मिला हुआ था कि वे उन सुन्दरियों से विवाह कर लें, जो उन्हें अत्यधिक आकर्षित करती हों।

सामान्यतः समन एक सामाजिक पर्व माना गया था, अत एव इस में सभी वर्ग तथा अवस्था के व्यक्ति अपनी इच्छानुसार मिल सकते थे। यहाँ तक कि बूढ़े तथा वृद्ध व्यक्ति भी इस के दर्शन का लाभ उठा सकते थे। इस प्रस्थापना से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में शिष्ट-कला (liberal art) स्त्रियों के मध्य विकसित हो रही थी। इस की पुष्टि कुछ उदाहरणों से की जा सकती है। **कात्यायनश्रौतसूत्र**[1] में महाव्रत का वर्णन है, जिस में एक यज्ञ-विशेष में यजमान की पत्नियों को भाग लेने का अधिकार है। इस में उन्हें वीणा बजाती हुई प्रदर्शित किया गया है। इस से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ उस समय में गीत तथा सङ्गीत की कला से घनिष्ठ-रूप से सम्बद्ध थीं। इस के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि किन्हीं-किन्हीं दशाओं में शिष्ट तथा ललित कलाओं का पूर्ण विकास स्त्रियों के ही मध्य हुआ। **गृह्यसूत्र** मुख्यतः मनुष्यों के जीवन तथा कार्यों से सम्बद्ध हैं। वे उन्हीं कर्मकाण्डों की अनुमति प्रदान करते हैं, जो मनुष्यों के हित में हैं। शकुन्तला राव के शब्दों में **गृह्यसूत्रों** का उद्देश्य इस प्रकार हैं : "The Grihya-Sutras, as indicated by the etymology of the word, are treatises dealing with rituals beneficial to a house (grihya-hitah grihyah). As such, they describe and give directions for the performance of all **samaskaras**, i. e. the rituals regulating the life of man and woman from the cradle to the grave."[2]

**गृह्यसूत्रों** की प्रस्थापनाएँ वेद-विदित हैं। **ऋग्वेद** तथा अन्य वेदों की मान्यताएँ यथावत् **गृह्यसूत्रों** में वर्णित हैं। गीत तथा सङ्गीत के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, क्योंकि ये ऋग्वैदिक कालीन समाज के लिए जितनी उपयोगी थीं, उतनी ही उपयोगी गृह्यसूत्रकालीन समाज के लिए थीं। मनुष्य की तो बात ही क्या, देवता भी कला की सिद्धि की चरमावस्था पर **ऋग्वेद** में नाचते-गाते प्रदर्शित हैं। इस सन्दर्भ में दो उदाहरण प्रदर्शित हैं। एक मंत्र में वर्णित है : "**गायन्ति त्वा गायत्रिणो।**"[3] एक दूसरे मंत्र में कहा गया है : "......च **नृतमनो अमर्ताः**।"[4] यहाँ देवता नृत्य करते हुए प्रदर्शित हैं, परन्तु यदि नृत्य धरती पर प्रदर्शित है, तब उस का महत्त्व किसी भी सीमा में कम नहीं है। नृत्य का प्रसङ्ग पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। सङ्गीत में

---

१. **कात्यायनश्रौतसूत्र**, १८.३.२१

२. शकुन्तला राव शास्त्री, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ११५

३. ऋ० १.१०.१

४. वही, ५.३३.६

ध्वनि का विशेष महत्त्व है तथा यह ध्वनि ब्रह्म-नाद के समान है। कुछ लोगों का मत हैं कि सङ्गीत अलौकिकता का प्रतीक है, अत एव सङ्गीत-साधना स्वतः ईश्वर या परम सत्ता की ही पूजा (आराधना) है।[1] कहा जाता है कि वैदिक ऋषि सङ्गीत-प्रेमी थे। सङ्गीत मानसिक एकाग्रता का स्रोत है। यही कारण है कि ऋषि भी इस विद्या का आनन्द लेते हुए प्रदर्शित हैं। डॉ० पी० वी० काणे का मत है कि नृत्य, गीत तथा सङ्गीत की कला यज्ञों तथा विवाहों में स्त्रियों से संयुक्त थी।[2] इस से सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में नृत्य, गीत तथा सङ्गीत की कला स्त्रियों में लोक-प्रिय रही होगी। इसकी पुष्टि 'समन' से होती है, जिस का वर्णन पहले किया जा चुका है।

अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्यों मनुष्य इन कलाओं का सहारा लेता हैं ? मनुष्य मशीन नहीं है। वह एक जीवधारी प्राणी है तथा जीवन के लिए जीता है। जीवन में सतत् श्रम आवश्यक नहीं है, क्योंकि निरन्तर श्रम तथा शक्ति से अधिक काम करने के कारण मनुष्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य चाहे शारीरिक 'अथवा मानसिक काम करे, उसे विश्राम की आवश्यकता होती है। मनुष्य के हृदय में इस अभिप्राय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती रहती है। ऋग्वैदिक काल के मनुष्यों के विषय में भी यही चरितार्थ होता है। उस समय के समाज में विभिन्न प्रकार के मनुष्य थे तथा एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में रुचि-वैभिन्य था, अत एव एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के मनोविनोद के साधनों में अन्तर था। ऋग्वैदिक मनोविनोद के साधनों को मुख्य-रूप से शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक भागों में बाँटा जा सकता है। मल्ल-युद्ध, शिकार आदि शारीरिक कोटि के मनोरञ्जनों में समाश्रित हैं। गीत, सङ्गीत आदि मानसिक तथा यज्ञ, पूजा आदि आध्यात्मिक मनोरञ्जनों में सन्निहित हैं। ऋग्वैदिक समाज में इन सब का अनुप्रवेश था। कुछ लोग यज्ञों को नाट्य का प्रतिरूप मानते हैं, परन्तु वास्तविक नाट्य इस से सर्वथा भिन्न हैं। नाट्य में जीवन तथा समाज की दशाओं का अनुकरण होता है। नाट्य ऐतिहासिक, जीवन-सम्बन्धी, पौराणिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि विभिन्न प्रकार के होते हैं। ऋग्वैदिक काल में नाट्य के इन विकसित रूपों का अस्तित्व नहीं था, परन्तु इन का बीज वहाँ अवश्य था। इस का कारण यह है कि अनुकरण उस समय भी था। मनुष्यों ने प्राकृतिक वस्तुओं में जीवन तथा शक्ति का दर्शन किया। वे प्राकृतिक वस्तुओं का अनुकरण करते थे तथा प्राकृतिक व्याख्या-पद्धति के आधार पर उन की व्याख्या करते थे। उनकी इस प्रकार की जीवन-पद्धति में प्राकृतिक वस्तुओं, जीवन-साथियों, समाज तथा पड़ौस

---

१. तु० मिस रेहाना तैयबजी, **'म्युजिक आर ब्रह्म नाद' वीमेन इन माडर्न इण्डिया** (बम्बई, १९२९), पृ० ११, १२३

२. पी० वी० काणे, **हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र**, भाग २, पार्ट २, पृ० १२४४-१२४५

में रहने वाले व्यक्तियों आदि के भावनाओं, विचारों आदि का अभूतपूर्व सामञ्जस्य था। फलतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वैदिक नाट्य सम्मिश्रित विचार के परिणाम-स्वरूप प्रादुर्भूत हुआ। इस कथन को इस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है : "It may therefore be stated that the main function of drama is to employ dialogue in order to represent a harmonious action, such as may spring from the circumstances of life, actually or conceivably real." इस से स्पष्ट है कि नाट्य के लिए सम्वाद अत्यावश्यक है। सम्वाद के पश्चात् रङ्गमञ्च अथवा रङ्गशाला की आवश्यकता होती है। संस्कृत-नाट्य की अनेक विशेषताएँ हैं तथा उन में से एक रङ्गमञ्च पर उन की अभिनेयता भी है। अभिनेय नाट्य के लिए रङ्गमञ्च अनिवार्य है। पुनः प्रश्न उठता है अथवा जिज्ञासा होती है कि ऋग्वैदिक काल में रङ्गमञ्च अथवा रङ्गशाला थी अथवा नहीं। विद्वानों में इस विषय में मत-भेद है। हम इस विषय के विस्तार में न जाकर केवल इतना ही कहेंगे कि उस समय रङ्गमञ्च की कला अविकसित थी। अभिनय खुले आकाश के नीचे होते थे। जहाँ तक सम्वाद का प्रश्न है, इसके प्रभूत प्रमाण ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्तों में उपलब्ध होते हैं। इस का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है।

## २. ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्त :

मैक्डानेल का मत है कि सम्वाद नाट्य के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिस का समान परिणाम भारत तथा ग्रीस में उपलब्ध होता है।[२] **ऋग्वेद** वस्तुतः ऋचाओं का समूह है, परन्तु इसके साथ-साथ वह सभी शास्त्रों तथा ज्ञानों का विश्व-कोश भी है। **ऋग्वेद** का पाठ्य मण्डलों तथा सूक्तों में विभक्त है। सूक्तों में कुछ सूक्त अत्यन्त अस्पष्ट हैं। विद्वानों ने उन को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, अत एव उन के पाठ्य के अनेक प्रकार के अर्थ उभर कर सामने आये हैं। सामान्यतः **ऋग्वेद** के पाठ्य में कर्मकाण्ड, दर्शन, धर्मनिर्पेक्ष, इतिहास, वृत्तान्त, व्यङ्ग आदि विषयक वस्तुओं का समावेश है। इसके अतिरिक्त **ऋग्वेद** के पाठ्य में से कुछ सूक्त पूर्ण अथवा लगभग संवादात्मक हैं। इन सम्वाद-सूक्तों की भारतीय तथा अभारतीय विद्वानों ने विभिन्न प्रकार की व्याख्या की है। संक्षेप में उन्हें सम्वाद अथवा आख्यान सूक्त, शास्त्रोक्त नाट्य, आल्हा या आल्हा-नाट्य, प्राचीनतम गद्य का अवशेष, अर्ध-नाट्य, नाट्य के विकास में अन्तिम चरण, नाट्य का तत्त्व तथा धर्मनिर्पेक्ष सूक्त कहा गया है।[३] इस के अतिरिक्त कुछ को दार्शनिक, ऐतिहासिक, जादू-सम्बन्धी, कथा-

---

१. लक्ष्मन स्वरूप, **द विजन ऑफ वासवदत्ता** (लाहौर, १९२५), पृ० ५९-६०

२. ए० ए० मैक्डानेल, **अ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटिरेचर** (लण्डन, १९०५), पृ० ३४७

३. ए० बी० कीथ, **द संस्कृत-ड्रामा** (आक्सफोर्ड, १९५९), पृ० ७

सूक्त आदि कहा गया है ।[१] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन सम्वाद-सूक्तों के विषय में अनेक भ्रान्तियाँ हैं ।

हम सर्वप्रथम उन सूक्तों की संख्या पर विचार कर रहे हैं तथा पुनः उनके पीछे छिपी धारणा पर विचार प्रस्तुत करेंगे । सामान्यतः विद्वानों में उनकी संख्या पर मतैक्य नहीं है । कुछ के मत में वे पन्द्रह हैं,[२] कुछ के अनुसार बीस[३] तथा कुछ के विचार में वे सात हैं ।[४] श्री वाचस्पति गैरोला ने उनकी संख्या सात मानी है । तदनुसार वे **१.१६५**, १७९; ३.३२; ८.१००; १०.१०, ९६, १०८ हैं ।

इन सूक्तों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं !

**ऋग्वेद** का सबसे विशाल सूक्त इन्द्र तथा मरुत का है । यह सूक्त प्रथम मण्डल से सम्बद्ध है तथा यह सूक्त प्रसङ्गानुसार तीन सूक्तों से सम्बद्ध है, जिसमें **१६५**,**१**७० तथा **१**७१ सूक्त आते हैं । यहाँ इन्द्र तथा मरुतों के मध्य एक कलह दिखाया गया है, जिस का मूल कारण सहायता का अभाव है। मरुतों ने इन्द्र की वृत्र-हनन में सहायता नहीं की । अन्ततोगत्वा इन्द्र ने वृत्र को अपने वश में कर लिया । इस पर मरुत हर्षोन्मादित हो उठे तथा नाचने लगे । इस प्रसङ्ग में मरुतों को सशस्त्र नवयुवक के रूप में चित्रित किया गया है । मरुतों की यह नर्तन की मुद्रा केवल **ऋग्वेद** में ही उपलब्ध नहीं होती है, अपितु अन्यत्र भी प्राप्त होती है । इसका सादृश्य रोमन सालू, ग्रीक कोरेटस (Kouretes), फ्रिजियन कोर्वण्ट्स तथा जर्मन नर्तकों में उपलब्ध होता है । यहाँ मरुतों ने जो नृत्य किया था, वह मूक नहीं था, अपितु उन नृत्यों में सम्वाद का भी मेल था ।[५] ऊपर के समता-विषयक प्रतिपादन से ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भारतीय तथा यूरोपीय पौराणिक कथाओं में अभूतपूर्व सादृश्य था । हमें इससे यह भी ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में इन सब देशों में ऐसी घटनाएँ घटित हुई होंगी, जिनमें सम्वाद का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा । कुछ लोगों का विचार है कि प्रारम्भिक अवस्था में केवल सम्वाद का अस्तित्व था तथा पश्चात् नृत्य ने उसका अनुगमन किया। पुनः कुछ काल के पश्चात् ये दोनों तत्त्व परस्पर मिल गये तथा नाट्य की प्रारम्भिक अवस्था को जन्म दिया । इसके विपरीत नृवंशविद्या (Ethnology) से ज्ञात होता है कि नृत्य पहले उत्पन्न हुआ तथा नाट्य से सम्बद्ध अन्य-तत्व कालान्तर में आए ।

---

१. **वही**, पृ० २०-२१

२. **वही**, पृ० १३

३. आई० शेखर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ४
"Their number has been reckoned not to exceed twenty."

४. वाचस्पति गैरोला, **भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण** (इलाहाबाद, १९६७), पृ० ५७

५. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १९-२०

**ऋग्वेद** के सूक्त १.१७९ में केवल छः मन्त्र हैं। इस सम्वाद-सूक्त के पात्र ऋषि अगस्त्य, उनकी पत्नी लोपा-मुद्रा तथा उनके पुत्र हैं। यह सूक्त गूढार्थक है। ओल्डेनवर्ग का मत है कि यह सूक्त मूर्खता या विवेक-शून्यता (absurd ty) का उदाहरण प्रस्तुत करता है।[१] **ऋग्वेद** के ३.३३ सूक्त में विश्वामित्र सोम के पौधे को लाने के इच्छुक प्रदर्शित हैं। फलतः वह विपाशा तथा शुतुद्री नदियों से प्रार्थना करते हैं कि वे अपने जलों को शान्त कर लें, जिससे वह सोम लाने के लिए उन्हें लाँघ सकें।[२] इस कथन में वैदिक तथा पौराणिक निरूपण की समानता है। पौराणिक आख्यान में वर्णित है कि अगस्त्य उत्तर से दक्षिण को दाक्षिणात्यों को आर्य बनाने की कामना से जाना चाहते थे। उनके पथ में समुद्र तथा पर्वत थे। उन्होंने उनसे प्रार्थना किया कि वे उन्हें दक्षिण जाने का मार्ग दे दें। समुद्र ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। फलतः उन्होंने समुद्र के जलों को अपने कमण्डलु में रख लिया। इसके विपरीत पर्वत ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया तथा ऋषि को दक्षिण जाने का मार्ग दे दिया[३]। यह कथा सम्मिश्रित स्वभाव की है, क्योंकि इसमें ऐतिहासिक तथा पौराणिक विशेषताओं का समावेश है। कीथ ने इस सूक्त को ऐतिहासिक माना है।[४] सूक्त का ऐतिहासिक मूल्य सूक्त के सम्वादात्मक स्वभाव को हानि नहीं पहुँचाता है। यदि हम सूक्त को नाट्य मान लें, तो अनेक आपत्तियाँ हमारे सामने आ खड़ी होंगी, क्योंकि इस की अन्य विशेषताएँ भी हैं।

**ऋग्वेद** का एक अन्य सम्वादात्मक सूक्त चतुर्थ मण्डल का है।[५] इसमें कुल तेरह मंत्र हैं। इस सूक्त में इन्द्र की अनैसर्गिक रूप से उत्पत्ति प्रदर्शित है। इसमें

---

१. **वही**, पृ० १९

"The absurdity of the whole process reaches perhaps its fullest exhibition in the dissertation of the hymn regarding Agastya and Lopamudra (1. 179), for it becomes a fertitity rite performed after the corn has been cut. Lopamudra becomes 'that which has the seal of disappearance up on it,', a feast which is impossible in the Vedic language; the hymn itself suits for better the obvious alternative of one who enjoys love at the cost of breaking her marital vows."

२. **ऋ०** ३.३३.१-१३

३. एन० एन० गोडबोले, **ऋग्वैदिक सरस्वती** (राजस्थान सरकार, जयपुर)

४. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० २०

"We have historical hymns is Mandala VII. Why should we turn the dialogue of Visvamitra and the rivers into a drama?"

५. **ऋ०** ४.१८. १-१३

संवाद के पात्र इन्द्र, अदिति तथा वामदेव हैं। इस सूक्त का विषय कुछ अस्पष्ट है, अत एव इसकी व्याख्या विभिन्न प्रकार से की गई है। कुछ लोग इसे सम्वाद-सूक्त मानते हैं। दूसरे कुछ लोगों के अनुसार यह शास्त्रोक्त वैदिक कर्मकाण्ड की एक रीति है, परन्तु कीथ इसे नाट्य ही मानते है।[१]

चतुर्थ मण्डल का एक सूक्त अत्यन्त रोचक है[२]। हम ने ऋग्वैदिक सूक्तों के स्वभाव की ओर पहले सङ्केत किया है तथा उनकी विभिन्न कोटियाँ निश्चित की हैं। उन सूक्तों में से कुछ सूक्त जादू तथा व्यङ्ग सम्बन्धी हैं, परन्तु कीथ इस विचार को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार सूक्त कर्मकाण्ड अथवा धर्मनिर्पेक्ष भाव वाले हैं[३]। आधुनिक समय में कभी-कभी अकाल आता है तथा वह कभी वर्षों तक रहता है तथा कभी थोड़े समय तक रहता है। इससे अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि वर्षा नहीं होती है। ऐसी कठिनाई के समय लोग सोचते हैं कि इन्द्र हम लोगों से अप्रसन्न है। फलतः वे इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए अनेक कार्य करते हैं। ऐसे कार्यों में नाचना, जादू-टोना आदि करना प्रमुख हैं। भाव यह है कि लोग नाचने-गाने वालों की मण्डली बनाकर घर से बाहर निकलते हैं तथा वे एक द्वार से दूसरे द्वार तक नाचते, गाते और भूमि पर लोटते हुए घूमते रहते हैं। यह प्रथा ऋग्वैदिक काल में आदिम वासियों में प्रचलित थी। वे विभिन्न प्रकार के जादू-टोना किया करते थे। अपने मुखों को ढँककर मेंढक की अनुकृति कर नाचते तथा गाते थे[४]। इसकी झलक **ऋग्वेद** के सूक्त से मिलती है, जहाँ उपर्युक्त कार्य की अनुकृति की झलक स्पष्टतः मिलती है, अत एव सूक्त का नाम ही मण्डूक-सूक्त पड़ गया है। कुछ लोग इस सूक्त में एक उत्सव के उर्वरता का पक्ष (a fertility aspect of a feast) ढूंढ़ते हैं। निस्संदेहतः इस सूक्त में नृत्य तथा गात्र-विक्षेप का प्राधान्य है तथा उनका अशिष्ट रूप ही प्राप्त होता है। इस सूक्त में की गई अनुकृति में मौनता की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि 'मण्डूक' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मण्डूक शब्द से शब्द तथा कूर्दन ध्वनित होते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे सूक्त में व्यङ्ग की झलक मिलती है।[५]

---

१. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १६

"The curious hymns, IV. 18, which tells of Indra's unnatural birth becomes a drama by the assumption that of the thirteen verses, seven are ascribed to the poet himself. We are in fact in every case presented with a bare possibility, which sometimes involves absurdities, and in all cases does nothing whatever to help us in interpretting the hymns."

२. ऋ० ७

३. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १६

४. ऋ० ७.१०३.१-१०

५. वही, ६.११२

दशवें मण्डल का एक सूक्त इसी परिप्रेक्ष में है, परन्तु वह कुछ अस्पष्ट है।[१] कुछ लोग इसे सम्वाद सूक्त मानते हैं, जो इन्द्र तथा वसुक्र के मध्य व्यापारित है। कुछ लोग इसे अक्ष-सूक्त मानते हैं। यहाँ पाशों के उछलने तथा गिरने में नृत्य की भावना अन्तर्हित है। कुछ व्याख्याकार इसे स्वगतभाषण (soliloquy) मानते हैं, परन्तु कीथ इस मत से सहमत नहीं हैं।[२] उनका विचार है कि यह सूक्त नितान्त शुद्ध रूप से धर्मनिर्पेक्ष है, क्योंकि स्वगतभाषण तथा शुद्ध धर्मनिर्पेक्ष तत्वों में स्पष्ट रूप से अन्तर होता है। वेद के उत्तरवर्ती भागों में हमें कुछ सन्दर्भ ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनका सम्बन्ध जुए से है। ऐसे सन्दर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय जुआ खेलना सामाजिक अपराध नहीं था, क्योंकि उनके परिपालन से वैधानिक कठिनाइयाँ नहीं आती थीं। यह खेल खुले रूप से खेला जाता था, विशेष रूप से अग्न्याध्यान तथा राज्याभिषेक के अवसर पर इसका खेल होता था। इस प्रकार यह मनोरञ्जन का एक साधन था।[३] प्रो० जागिरदार नाट्य के विषय में इस प्रकार लिखते हैं : "The earliest specimens of Bhanas in Sanskrit literature are monologues of a ruined gambler R.V. X.34 and of Drunken Indra."[४] यहाँ भाण विशेष-रूप से ध्यान देने योग्य है। भाण √भण् धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ कहना है। स्वगत का अर्थ अपने मन में बात करना है, प्रकाश रूप से नहीं, अत एव स्वगत भाषण को भाण नहीं कहा जा सकता। आधुनिक परिभाषा के अनुसार स्वगत कथन भाण नहीं है। भाण नाट्य का एक भेद है, जिसमें एक ही पात्र होता है तथा वह उच्च स्वर से बोलता है।[५] यही कारण हैं कि नाट्य में वस्तु को कहीं-कहीं 'स्वगत' तथा 'प्रकाश' में विभाजित किया गया है, जो स्वतंत्र नाट्य-भेद नहीं हैं। प्रो० जागिरदार जिसे भाण कहना चाहते हैं, वह उचित नहीं है तथा उपर्युक्त सूक्त इस अभिप्राय को कथमपि पूरा नहीं करता है, क्योंकि उसमें एक पात्र नहीं, कई पात्र हैं तथा वह उच्च शब्दों से कहा जा रहा है। इस परिचर्चा से स्पष्ट हो जाता है कि स्वगत भाषण तथा धर्मनिर्रेक्ष तत्व और स्वगत भाषण तथा भाण में अन्तर है। प्रकृत सूक्त में हम स्वगत भाषण के तत्वों को ढूंढ़ सकते हैं। अन्यथा रूप में यह सूक्त धर्मनिर्पेक्ष तत्व वाला है तथा इसमें सम्वाद निहित है। इसी सन्दर्भ में एक दूसरा सूक्त ले सकते हैं तथा उस का स्वभाव निश्चित कर सकते हैं।[६] ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त में इन्द्राणी तथा वृषा-

---

१. **वही**, १०.२८

२. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १६

३. **श० ब्रा०** ५.४.४.६

४. आर०वी० जागिरदार, **ड्रामा इन संस्कृत लिटिरेचर** (बम्बई, १९६७), पृ० ३० फुटनोट १

५. **दशरूपक**, ४.४९-५०

६. ऋ० १०.११९.१-१३

कपि के मध्य सम्वाद पाया जाता है।[1] इस सूक्त पर विभिन्न प्रकार से विचार किया गया है तथा उन विचारों में भिन्नता पाई जाती है।[2]

ऋग्वैदिक काल में मनोविनोद के अनेक साधन थे। मनुष्य की यह प्रकृति है कि वह अपने विश्राम अथवा कठिन कार्य के पश्चात् मनोविनोद करना चाहता है। ऋग्वैदिक कालीन जन इसके अपवाद नहीं माने जा सकते। उस समय के मनुष्य सामाजिक, धार्मिक आदि उत्सवों पर विभिन्न प्रकार से अपना मनोरञ्जन करते थे। सोम-पान, मुक्केबाजी, वाँस-नृत्य, आखेट, घुड़सवारी, रथ-दौड़ आदि भी ऋग्वैदिक लोगों के मनोविनोद के साधन थे। प्रहेलिकाएँ भी मनोविनोद की साधन थीं। इनके अतिरिक्त **ऋग्वेद** में कुछ ऐसी घटनाएँ तथा प्राकृतिक दशाओं का चित्रण हुआ है, जिनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि लोगों में अनुकरण की प्रवृत्ति थी अथवा विकसित हो रही थी।[3] मुद्गल-सूक्त से इसी प्रकार की झलक मिलती है।[4] इस सन्दर्भ में भी विद्वानों में मतैक्य नही है।

नाट्य में अभिनय की अपरिहार्यता होती है। ऊपर मनोरंजन के कुछ साधनों का वर्णन किया गया है और उन में से कुछ में अनुकरण की झलक मिलती है, परन्तु उन में सम्वाद का अभाव है। फलतः उन्हें यथार्थतः सम्वाद-सूक्त उसी रूप में नहीं कहा जा सकता है, जिस रूप में यह सम्वाद-तत्त्व इन्द्र-वरुण,[5] वसिष्ठ और उनके पुत्र[6] आदि देवता और अग्नि[7] तथा नेम भार्गव तथा इन्द्र सूक्त[8] में है।

सम्वाद-सूक्तों में अत्यन्त प्रसिद्ध सूक्त सरमा-पणि, यम-**यमी और पुरूरवा** और उर्वशी सूक्त हैं। पणियों के विषय में कुछ मतभेद है। 'पणि' शब्द **ऋग्वेद** में कई स्थलों पर आता है[9] तथा इसे कई अर्थों में ग्रहण किया गया है। प्रकृत सन्दर्भ में पणि वैमनस्यता का प्रतीक है। उन्हें देवों की गौओं को चुराने वाले के रूप में भी वर्णित किया गया है तथा उन्हें जल-वर्षण के अवरोधक के रूप में भी प्रदर्शित किया गया है। सरमा देवों की कुतिया है तथा वह नितान्त स्वामि-भक्त है। फलतः वह अपने स्वामियों के सेवार्थ उन पणियों के पास उन की गायों को मुक्त कराने के लिए जाती

---

१. **वही**, १०.४६.१-२३
२. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १८
३. मन्मथ राय, **प्राचीन भारतीय मनोरञ्जन** (इलाहाबाद, १९५६), पृ० ३५
४. **ऋ०** १०.१०२.१-१२
५. **वही**, ४.४२.१-१०
६. **वही**, ७.३३.१-१४
७. **वही**, १०.५१.५३
८. **वही**, ८.१००.१-२
९. **वही**, १.३२.११ ; २.२४.६ ; ४.५८.४;६.४४.२२;७.९. ३;१०.६७.६,९२.३ इत्यादि।

है। तब पणियों तथा सरमा के मध्य वार्तालाप होता है। उर्वशी तथा पुरूरवा से सम्बद्ध सम्वाद अत्यन्त रुचिकर तथा सुन्दर है।[1] उर्वशी एक स्वर्गीया अप्सरा है, जो इन्द्र की आज्ञानुसार पृथिवी पर अवतरित होती है तथा मर्त्य राजा पुरूरवा से मिलती है। राजा उर्वशी के अद्वितीय सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। उस समय दोनों के मध्य सम्वाद प्रारम्भ होता है। उर्वशी राजा के साथ रहने के लिए इस शर्त पर तैयार हो जाती है कि वह राजा को नग्नावस्था में नहीं देखेगी। फलतः वे साथ रहने लगते हैं। एक दिन अकस्मात् वह राजा को नग्नावस्था में देखती है, अत एव साथ रहने का प्रण टूट जाता है तथा वह राजा को छोड़कर स्वर्ग चली जाती है। यम तथा यमी का सम्वाद भी अत्यन्त रुचिकर अनेक दृष्टियों से है।[2] यम तथा यमी आदिम जोड़ुए हैं। इस सूक्त में अनेक दार्शनिक, नैतिक आदि बातों का समावेश है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह सूक्त शास्त्रोक्त कर्म-विधि के एक **भाग** का प्रतिनिधित्व करता है, जिस में दार्शनिक सार का समन्वय है। कीथ का विचार इस से भिन्न है। उन्होंने इस में एक शास्त्रोक्त संस्कार माना है।[3]

पुनः सम्वाद-सूक्तों की प्रकृति पर विद्वानों में मत-वैभिन्नता पाई जाती है। श्री इन्दुशेखर का मत है कि ये सम्वाद-सूक्त महाकाव्य (Epic) तथा अभिनेय कविता के मध्य जोड़ने वाले कड़ी हैं।[4] इस समय **रामायण** तथा **महाभारत** दो महाकाव्य हैं, जो कविता के रूप में लिखित हैं। श्री आई० शेखर के उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि ऋग्वैदिक सम्वाद-सूक्तों में महाकाव्यों की झलक मिलती है। इसके साथ यह भी सत्य है कि ये सम्वाद-सूक्त अन्य सूक्तों की भाँति प्राचीनतम कविता के रूप में लिखित हैं, जो उस समय के नाटकीय सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसे और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि वर्तमान

---

१. **वही**, १०.९५-१-१८ "Besides **RV**, X.९५.१०, १७ have also been considered to be the dialogue hymn between Urvashi and Pururvas. According to **RV**, VII. ३३.११, Vasishtha took his birth from the union of Urvashi and Mitravaruna. The Shatapatha-Brahmana, X.५.१ and onwards give an elaborate account of this dialogue."

२. **वही**, १०.१.१४

३. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० २०
"We find in the Rgveda a number of philosophical hymns. Why should we not admit that a philosophic dialogue such as that of Yama and Yami is possible without demanding that it should be a fragment of ritual."

४. आई० शेखर, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ४-५

समय में नाट्य में दो प्रकार का रूप मिलता है। उनमें एक गद्य तथा दूसरा पद्य का रूप है। इन दोनों रूपों में कविता में सस्वाद नहीं है, क्योंकि इस में केवल एक ही पात्र होता है तथा वह किसी सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ उसको गाता अथवा किसी स्वर-विशेष के साथ उसको पढ़ता है। नाट्य का गद्य-भाग सम्वाद के लिए होता है। कविता का अधिक भाग रुचिकर होता है तथा दर्शकों पर चिर-स्थायी प्रभाव छोड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि इस कविता का अस्तित्व नाट्य में हो सकता है। श्री आई० शेखर सम्वाद को महाकाव्य से जोड़ना चाहते हैं। इस प्रस्थापना में उन के कहने का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि संस्कृत-नाट्य का इतिवृत्त तथा पात्र ख्यात होने चाहिए, न कि कवि-कल्पित होना चाहिए। विन्टरनित्ज़ का विचार लगभग ऐसा ही है। उनका विचार है कि इस प्रकार के विश्लेषण बहुधा **महाभारत, पुराण** तथा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं।[1] उन का मत है कि इस प्रकार के सूक्त आल्हा अथवा आल्हा-नाट्य हैं। सामान्यतः आल्हा या आल्हा-नाट्य पूर्ण व्याख्यायित नहीं हैं। विश्वास है कि ये आल्हा या आल्हा-नाट्य प्रारम्भ में गद्य तथा पद्य के रूप से यज्ञ से सम्बद्ध थे। गद्य-रूप को सुरक्षित रखने में बड़ी कठिनाई थी, क्योंकि उसे स्मरण रखना बड़ा कठिन था। दूसरी बात यह है कि उसे हस्तान्तरित करना सरल नहीं था, अत एव इसे सुरक्षित नहीं रखा जा सका। फलतः **संहिताओं** के निर्माण-काल में उस भाग को छोड़ दिया गया। इसके विपरीत पद्य-भाग अत्यन्त लाभ-दायक था, अत एव वह सुरक्षित रहा। संस्कृत-नाट्य में गद्य तथा पद्य का सम्मिश्रण प्रारम्भिक वैदिक सम्वाद-सूक्तों का उत्तरदान है। ओल्डेनवर्ग के कहने का यही अभिप्राय है। विद्वानों ने प्रायः उन के कथन का अनुमोदन किया है। ओल्डेनवर्ग ने ऐसे सम्वाद-सूक्तों को आख्यान-सूक्त कहा है। पुराणों में आख्यान भरे पड़े हैं, परन्तु **ऋग्वेद** में अपेक्षाकृत ये न्यून हैं। **ऐतरेय-ब्राह्मण** में एक आख्यान उपलब्ध होता है, जो शुनःशेप से सम्बद्ध है।[2] **शतपथब्राह्मण** में आख्यानों की एक लम्बी परम्परा है तथा वहाँ आख्यान को परिप्लाव की संज्ञा दी गई है।[3] यास्क ने भी **निरुक्त** में इस ओर सङ्केत किया है।[4] **ऋग्वेद** में आख्यान अत्यल्प हैं। आख्यान इतिहास से सम्बद्ध हैं और यदि हम सम्वाद-सूक्तों को आख्यान-सूक्त मानें, तो इस का तात्पर्य यह होगा कि सम्वाद-सूक्त ऐतिहासिक हैं। यह सत्य नहीं है, क्योंकि सम्वाद-सूक्तों का अध्ययन हमें बताता है कि ये पूर्णरूपेण ऐतिहासिक नहीं हैं। कुछ सम्वाद-सूक्तों को ऐतिहासिक माना जा सकता है, सभी को नहीं। हम ने पहले सूक्तों

---

१. एम० विन्टरनित्ज़, **अ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटिरेचर**, भाग १, पार्ट १ (कलकत्ता, १९६२), पृ० ८९ तथा आगे।

२. **ऐ० ब्रा०** ७.१८.१०

३. श० ब्रा० १३.४.३.२,१५

४. **निरुक्त**, ५.२१;७.७

का विभाजन दर्शाया है, उससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि स्वतः हो जाती है। हम उन सूक्तों को आल्हा का रूप भी नहीं दे सकते, क्योंकि आल्हा (ballads) सामान्य कविता के रूप हैं अथवा साहसिक कार्यों के गान हैं। इसी प्रकार आख्यानों का स्तर अत्यन्त निम्नकोटि का है तथा उन का उच्च स्तर पर मूल्य नहीं है। हमें ज्ञात है कि सम्वाद-सूक्तों से अनेक ऋषि तथा देवता सम्बद्ध हैं। सम्वाद-सूक्तों को आख्यान-सूक्त भी इस आधार पर नहीं कह सकते कि उन का उद्भव गद्य तथा पद्य के ढाँचे से हुआ है, क्योंकि परम्परा से इन सूक्तों की ऐसी विचित्र विशेषता ज्ञात नहीं है[1]। विंडिश प्रथम थे, जिन्होंने इस भाँति के सूक्तों के अस्तित्व को प्राचीन आइरिश की पौराणिक कविता में ढूंढ़ा। उन्हों ने अनुकरण के सादृश्य पर ऋग्वैदिक सम्वाद-सूक्तों में उन्हीं तथ्यों को ढूंढ़ा। यह मत विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि सादृश्य किसी तथ्य का पता लगाने में पूर्ण प्रमाण नहीं है। भारतीय तथा ग्रीक पौराणिक कथाओं में अनेक समानताएँ हैं, परन्तु इस का तात्पर्य यह कथमपि नहीं है कि हमारी पौराणिक कथा ग्रीक पौराणिक कथा से प्रभावित है।

मैक्डानेल का मत इस से भिन्न है। इन्होंने ने सम्वाद-सूक्तों को प्राचीनतम अभिनेय साहित्य का रूप माना है। इन्होंने सरमा-पणि, यम-यमी तथा उर्वशी-पुरूरवा सूक्तों को महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि उर्वशी-पुरूरवा सूक्त आधुनिक पूर्ण नाट्य की उन्नति का मार्ग है।[2] प्रो० कीथ का विचार है कि **ऋग्वेद** के सूक्तों को वैदिक संस्कार तथा धर्मनिर्पेक्ष-सम्बन्धी कोटि में रखा जा सकता है। पुनः उन्होंने वैदिक संस्कार-सम्बन्धी सूक्तों को प्राचीन तथा नवीन भागों में विभाजित किया है। उन्होंने **ऋग्वेद** के सम्वाद-सूक्तों को प्राचीन कोटि में माना है। इस प्रस्थापना से ज्ञात होता है कि सम्वाद-सूक्त याजकीय हैं, जिन में पुरोहित देवों अथवा दानवों का रूप धारण करते थे। यह तथ्यतः तमाशा के लिए होता था तथा वह भी यज्ञों अथवा उत्सवों के समय होता था।[3] कीथ का यह मत पूर्णरूप से मान्य नहीं है, क्योंकि **ऋग्वेद** में अनेक ऐसे सूक्त हैं, जिनका सम्बन्ध धर्मनिर्पेक्ष तथा वैदिक संस्कारों से नहीं है। उनका अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। जान पड़ता है कि कीथ सम्वाद-सूक्तों के वास्त-

---

१. तु० विन्टरनित्ज़, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ८८, पाद-टिप्पणी २

२. ए० ए० मैक्डानेल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३४६

"The earliest forms of dramatic literature in India are represented by those hymns of the Rigveda which contain dialogues, such as those of Sarma and the Panis, Yama and Yami, Pururva and Urvasi, the latter, indeed, being the foundation of a regular play composed much more than a thousand years later by great dramatist of India."

३. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १७

विक स्वरूप को नहीं जानने चाहते हैं। वह वैदिक संस्कारों में नाट्य-तत्त्व के अन्वेषण के इच्छुक हैं।[१]

इसमें सन्देह नहीं है कि **ऋग्वेद** के अधिकांश सूक्त यज्ञों तथा संस्कारों से सम्बद्ध हैं। सायण का मत हैं कि ऋग्वैदिक मंत्रों का यज्ञ में विनियोग है। यदि हम सायण के अभिप्राय को मन में रखते हैं, तो कीथ का मत अधिक सीमा तक ठीक है, परन्तु **ऋग्वेद** के सभी मंत्र ऐसे वस्तुतः नहीं हैं, क्योंकि विद्वानों ने उनका अर्थ भिन्न-भिन्न किया है। जान पड़ता है कि कीथ सोम-यज्ञ से विशेष-रूप से अनुप्राणित हैं। इस यज्ञ के सन्दर्भ में कहा गया है कि एक शूद्र सोम बेच रहा है अत एव उनके साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा है। सम्भवतः इस दृश्य ने कीथ को प्रभावित किया होगा तथा उन्होंने अपना विचार बना लिया होगा कि यह दृश्य अवश्य अभिनीत हुआ होगा तथा इस से वैदिक संस्कार-सम्बन्धी अभिनय जन्मा होगा। यह सत्य नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण सम्वाद-सूक्त या सूक्त सामान्यतः वैसे नहीं हैं और प्रत्येक सूक्त का विषय भिन्न-भिन्न है। कीथ ने सम्वाद-सूक्त (वैदिक संस्कार-सम्बन्धी) की दो विशेषताएँ और बताई हैं। उनमें एक की सर्व प्रियता है तथा दूसरा संस्कार-सम्बन्धी या याजकीय है। उन का मत है कि पहली विशेषता समाप्त हो गई तथा दूसरी ने बङ्गाल की यात्रा पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा।[२]

**ऋग्वेद** के एक अन्य मंत्र में इन्द्र, अगस्त्य और मरुतों के बीच सम्वाद[३] प्रदर्शित है। मैक्स मूलर ने इसे एक धार्मिक उपासना-विधि से सम्बद्ध किया है। उन का विचार है कि यह सूक्त सम्भवतः एक यज्ञ के समय दो पक्षों द्वारा अभिनीत होता था। उन में से एक पक्ष इन्द्र का प्रतिनिधित्व करता था तथा दूसरा पक्ष मरुतों एवं उन के अनुयायियों का अनुकरण करता था।[४] मैक्स मूलर सामान्यतः ऐसा विचार

---

१. **वही**, पृ० २३.२४

२. **वही**, पृ० १६ : "The dramas of the ritual, therefore, are in a sense of somewhat out of the main line of the dovelopment of the drama, the popular side has survived through the ages in a rough way in the Yatras well-known in the literature of Bengal, while the refined and sacridotalized Vedic drama passed away evithout a direct descendant."

३. ऋ० १.१६५.१४

४. मैक्स मूलर, **सेक्रेड बुक्स ऑफ द इस्ट**, भाग ३२ (दिल्ली, १९६४), पृ० १८३ "It we suppose that this dialogue was repeated at sacrifice in the honour of the Marutas, or that possibly it was acted by two parties, one representing Indra, the other the Marutas and their followers, then the two verses in the beginning and the three at the end, were to be placed in the mouth of the actual socrificer, who ever he was."

अन्य सम्वाद-सूक्तों से ग्रहण करते हैं, अत एव उनकी दृष्टि में वे अभिनेय नाट्य हैं।[1] सिल्वर लेवी का भी यही मत है।[2] पश्चात् में इस सम्भावना को बल मिला तथा कुछ लोगों ने इस विचार को उसी रूप में स्वीकार किया। ऐसे लोगों में हर्टल तथा वान श्रोदर प्रमुख हैं।

वान श्रोदर तथा डॉ० हर्टल ने भारोपीय उत्पत्ति के रहस्यपूर्ण नाट्यों से अपने विचारों का निर्माण किया। वे नृवंशविद्या पर भी विचार करते हैं तथा तदनुसार यह विचार स्थापित करते हैं कि नृत्य, गान, सङ्गीत तथा नाट्य का सम्पूर्ण संसार के मनुष्यों के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है। ये तत्व मनुष्यों के कार्यों के रूप में दैवी घटनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिन में जगत्सम्बन्धी विशेषताएँ स्थायी-रूप से पिरोहित हैं। फलतः पुरोहितों ने यज्ञों में देवों के कार्यों को प्रारम्भ किया। इस अनुकरण में पुरोहितों ने स्वयं को सचमुच देव स्वरूप ही मान लिया। डॉ० हर्टल का यही विचार है। उन का विचार है कि वैदिक सूक्त सदैव गाये जाते थे, जिन में पात्र केवल उन के गाने वाले होते थे, परन्तु सम्वाद में यह सम्भव नहीं है। सम्वाद-सूक्तों को एक से अधिक पात्रों की आवश्यवता होती है। ऐसी स्थिति में वे नाट्य कला की प्रारम्भावस्था को सूचित करते हैं। नाट्य-सम्बन्धी यह कला **ऋग्वेद** के संस्कार-सम्बन्धी कार्यों में वर्तमान थी। इस के अतिरिक्त यह कला सम्वाद-सूक्तों में प्रारम्भिक अवस्था में थी।[3] डॉ० हर्टल **ऋग्वेद** के सुपर्णाख्यान को अधिक महत्त्व देते हैं। उन का दृढ विचार है कि यह वास्तविक रूप से अभिनेय नाट्य है। उन का यह विचार सर्वथा उपयुक्त नहीं है, क्योंकि सुपर्णाख्यान भारत के संस्कृत-नाट्य के निर्माण में अपना प्रभाव नहीं डालता है। दूसरी बात यह है कि इसके विषय तथा इतिवृत्त को कथमपि वास्तविक नाट्य से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सुपर्णाख्यान तथा बङ्गाल की यात्रा के मध्य समानता नहीं है। बङ्गाल की यात्रा से ज्ञात होता है कि भारतीय नाट्य किस प्रकार वैदिक काल से लौकिक समय तक विकसित हुआ। कोनो का विचार है कि ऋग्वैदिक सूक्तों तथा वैदिक संस्कारों में कोई अन्तर नहीं है। इन्होंने उन सूक्तों में वास्तविक नाट्य का अस्तित्व माना है।[4] लिहेब्राण्ड का भी यही मत है।[5]

एस० एन० दासगुप्ता इन सम्वाद-सूक्तों को नितान्त भिन्न रूप प्रदान करते हैं। उन के अनुसार ये सम्वाद-सूक्त न तो प्रार्थना के सूक्त हैं और न धन्यवादार्पण के हैं। वे धार्मिक पौराणिक विषयों से सम्बद्ध हैं तथा वे किसी भी प्रकार आल्हा या

---

१. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १५

२. एस० लेवी, **ले थियेटर इण्डियन** (पेरिस, १८९०), पृ० ३०१, ३०७

३. वान श्रोदर, **मिस्टियन लेण्ड मिमस इम ऋग्वेद** (लाइपज़िग, १९०८)

४. एस० कोनो, **डास इण्डिशे ड्रामा** (र्वलिन, १९२०), पृ० ४२

५. ए० हिलेब्राण्ड, **डी ग्राफङ्ग डेस इण्डिशेन ड्रामा** (म्युनिक, १९१४), पृ० ४२

आल्हा-नाट्य भी नहीं हैं। वह यह भी मानने के लिए तैयार नहीं है कि संस्कृत-नाट्य पवित्र नृत्य-गीत, अभिनयों तथा सम्वादों से विकसित हुआ है।[1]

यहाँ कुछ भारतीय व्याख्याकारों के विचारों का पर्यालोचन करना भी उचित प्रतीत होता है। इन व्याख्याकारों में सायण, शौनक तथा यास्क प्रमुख हैं। ये सभी इन सूक्तों को सम्वाद मानते हैं। कभी-कभी आख्यान तथा इतिहास उन के लिए प्रयुक्त हैं।[2] सायण ने कहीं भी ऐसे ऋग्वैदिक सूक्तों को वैदिक संस्कार की संज्ञा नहीं दी है। केवल **ऋग्वेद** का १०.८६ सूक्त इस का अपवाद हैं।[3]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सूक्तों की लोगों ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है। ऐसी दशा में इन सूक्तों के असली स्वभाव को बताना बड़ा कठिन है। कुछ विद्वान् **ऋग्वेद** के कुछ सूक्तों को संवादात्मक स्वीकार करते हैं। यदि हम उन्हें सम्वाद-सूक्त मान भी लें, तो इस का तात्पर्य यह नहीं है कि उन का प्रयोग आज के नाट्य के सम्वाद के रूप में होता था। सचमुच आज के नाट्य के समान उस समय नाट्य नहीं थे। सच बात तो यह है कि सम्वाद-सूक्त उस काल के सम्वाद की अत्यन्त कच्ची सामग्री को प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वैदिक काल में नाट्य अपनी शैशवावस्था में था तथा उस को अपने विकास में इन तत्त्वों से सहायता मिली। इस समय संस्कृत-नाट्य अपने पूर्ण विकास की स्थिति में है। इस में आधुनिक अनेक पारिभाषिक विशेषताओं तथा नवीनताओं का समावेश है। नृत्य, गीत, सङ्गीत आदि नाट्य के शोभा-धायक हैं। **ऋग्वेद** में ये भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थे। यही बात सम्वाद-सूक्तों के विषय में समझनी चाहिए। बहुत बाद में आकर इन सामग्रियों ने नाट्य को जन्म दिया।

---

१. एस० एन० दास गुप्ता एण्ड एस० के० दे, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ४३,४६-४७

२. एस० के० दे, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ४३, पादटिप्पणी १५
"Both Saunaka and Sayana apply the term Samvada-Sukta to most of these hymns, but sometimes the term Itihasa and Akhyana are also employed. Even assuming popular origin and dramatic elements, the hymns are in no sense ballads or ballad-plays."

३. ए० बी० कीथ, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० १५

## अथर्ववेद में प्रकृति तथा मानव

प्रकृति संस्कृत-साहित्य की अभिन्न अङ्ग है। महाकाव्यों की विशेषताओं में भी वर्णित है कि इन में प्रकृति को उचित स्थान मिलना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत के नाट्य की विशेषताओं में कहा गया है कि नाट्य में प्रकृति का यथोचित स्थान है। "संस्कृत-नाट्यों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दीख पड़ता है। प्रकृति की रमणीयता नाटक की चारुता में वृद्धि करती है। उपवन के वृक्ष, लताएँ, पशु-पक्षी आदि सभी नाटक के अङ्ग हैं। संस्कृत-नाटकों में अन्तः प्रकृति के साथ ही बाह्य प्रकृति का भी सुन्दर एवं विशद चित्रण पाया जाता है। अन्तः प्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिए बाह्य प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है।"[१]

हम जानते हैं कि मनुष्य प्रकृति के बीच पैदा हुआ था, उसी के मध्य में रहता है और मरने पर भी प्रकृति में विलीन हो जाता है। प्राकृत जन प्रकृति को देखता, छूता तथा अनुभूत करता हुआ भी उस के सौंदर्य तथा उपकार का मर्मस्पर्शी बोध नहीं रखता है। एक शिक्षित, लेखक तथा कवि व्यक्ति तो प्रकृति पर न्योछावर रहता है। कवि तथा लेखक के लिए प्रकृति अनेक उपादानों को लाती है। यही कारण है कि प्रकृति और काव्य, काव्यशास्त्र और प्रकृति, विभिन्न काव्य-रूपों में प्रकृति आदि के सम्बन्ध से काव्य में प्रकृति पर विचार किया जाता है।[२] मुख्य रूप से प्रकृति के लौकिक तथा वैदिक दो रूप हैं। दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यहाँ लौकिक प्रकृति पर कुछ प्रकाश डालना अपेक्षित प्रतीत होता है। सामान्यतः यहाँ देखा जाता है कि मनुष्य प्रकृति में चेतना का अभाव देखता है। प्रकृति में बहुत सीमा तक उसे किसी दैवी शक्ति का बोध नहीं होता है। मनुष्य यह सोचता है कि प्रकृति उपभोग्या है तथा वह उस का स्वामी है। वह निरन्तर प्रकृति को जीतने तथा अपने वश में करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उस के हृदय में प्रकृति के लिए कोई दया-भाव अथवा आराधना की कल्पना नहीं है। सामान्य मनुष्य तो प्रकृति के विषय में प्रमत्त है, परन्तु कवियों के लिए वह आकर्षण का विषय है। वह ही उस में ईश्वर, चेतना, संवेदना, सौंदर्य, भाव आदि को ढूंढ़ता है, परन्तु वैदिक काल में यह स्थिति सर्वथा भिन्न थी। उस समय प्रकृति के मुख्यतः बाह्य और आन्तरिक दो रूप थे अथवा इसे

---

१. चन्द्र शेखर पाण्डेय, **संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा** (कानपुर, १९७८), पृ० २३२-२३३

२. द्र० रघुवंश, **प्रकृति और काव्य** (दिल्ली, १९६३)

और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति के स्थूल तथा सूक्ष्म दो रूप थे। स्थूल रूप से प्रकृति बाह्य जगत् में अपने-अपने निश्चित स्थानों पर रहती थी, परन्तु सूक्ष्म रूप से उस का मानव-शरीर में निवास था। इस सम्बन्ध में **एतरेय-उपनिषद्** को उद्धृत किया जा सकता है। इस उपनिषद् का कथन है कि विभिन्न प्रकार के देव प्रकृति के विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों में रहते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप से उन का मानव-शरीर में निवास है।[1]

वैदिक लोगों का जीवन तो प्रकृति से ओत-प्रोत था। न केवल ऋषि, अपितु सामान्य जन प्रकृति से अत्यन्त प्रभावित थे। वे कभी भी प्रकृति से अप्रमत दिखाई नहीं देते हैं। वे उस की नित्य आराधना करते हैं। वे प्रकृति के प्रति श्रद्धा से सदा अवनत रहते हैं। वे प्रकृति में विभिन्न देवों की छाया निहारते हैं। प्रकृति को कभी भी असन्तुष्ट नहीं करना चाहते हैं। उनके प्रत्येक कार्य में प्रकृति का हस्तक्षेप है। उनकी दृष्टि में मानव के प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति का प्रवेश है। प्रकृति के प्रति इस श्रद्धा ने वैदिक धर्म को जन्म दिया, अत एव यदि आर्यों के धर्म को प्रकृति-पूर्ण धर्म कहा जाये, तो यह असङ्गति नहीं होगी।

सामान्य जनों के अतिरिक्त ऋषियों के लिए प्रकृति आदि धर्म रही है। सर्वप्रथम उन्होंने इसमें वैदिक धर्म तथा दर्शन का दर्शन किया तथा उसके वास्तविक स्वरूप को दूसरों को बताया। इस कथन की पुष्टि एक ऋग्वैदिक उदाहरण से की जा सकता है :

**यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।**
**तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥**[2]

इसका भाव यह है कि ऋषियों ने वाणी को सर्वप्रथम प्राप्त किया। उन्होंने उसका अध्ययन किया तथा उसके विस्तृत प्रयोग के लिए बुद्धिमानों और अन्यों को दिया। यहाँ केवल सङ्केत किया गया है। आगे दिए गये सन्दर्भों से इसकी पुष्टि होती है।

हम आगे कुछ उदाहरण देंगे तथा दिखायेंगे कि कैसे प्रकृति अपने विभिन्न रूपों से मानवों से जुड़ी हुई है। कैसे-कैसे मनुष्य उनसे विभिन्न भाव आतम-संतुष्टि के लिए निकालता है।

## १. पृथिवी :

यहाँ हम सर्वप्रथम पृथिवी-स्थानीय प्रकृति को ले रहे हैं तथा उसका मानव से सम्बन्ध स्थापित करेंगे। पृथिवी-स्थानीय प्रकृति में पृथिवी का मुख्य स्थान है। वस्तुतः पृथिवी-स्थानीय प्रकृतियों के लिए पृथिवी आधार-स्तम्भ है। इसी पृथिवी पर नदी,

---

१. ऐ० उ० १.२.४
२. ऋ० १०.७१.३

पर्वत, सोम, अग्नि, ओषधि-वनस्पतियाँ, पशु, पक्षी आदि रहते हैं। उन सबका आधार पृथिवी है। **अथर्ववेद** में भूमि-सूक्त आता है तथा उसमें पृथिवी की महत्ता का विशद वर्णन है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में पृथिवी का वर्णन किया जा रहा है :

**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**
**सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥**[१]

सत्य पालन का ऊँचा आदर्श, सृष्टि सञ्चालक नियमों का दृढ़ता से पालन, कठोर तप, शुभ कार्यों के लिए दीक्षापूर्वक प्रवृत्ति, वेदाध्ययन, अग्निष्टामे आदि यज्ञ अथवा त्याग-भावना—ये सब तत्त्व पृथिवी को धारण करते हैं। उत्पन्न हुए एवं उत्पन्न होने वाले प्राणी-समुदाय को पालने वाली वह पृथिवी हमें निवासादि के लिए विस्तृत स्थान प्रदान करे।

इस सूक्त में सार्वभौमिक दृष्टिकोण रखा गया है। फलतः इस पृथिवी का सम्बन्ध विश्व के सारे प्राणियों से है तथा इस सूक्त में पृथिवी की वन्दना की गई है, अत एव इसे मातृ-भूमि सूक्त भी कहा जा सकता है। जो पृथिवी विभिन्न आदर्शों को धारण करने वाली है, उससे सबका लगाव होना स्वाभाविक है। यह पृथिवी सब का भरण-पोषण करती है, अत एव इसे माता की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार हम यहाँ देखते हैं कि मनुष्य के जन्म लेने, बढ़ने तथा मरने तक पृथिवी उसका साथ देती है, अत एव पृथिवी के साथ मनुष्य का गहरा सम्बन्ध है। सत्यनिष्ठा, सार्वजनिक नियमों का पालन, नियमपूर्वक शुभ कर्मों का अनुष्ठान, कठिन परिश्रम, वेदशास्त्रादि का अध्ययन और स्वार्थत्यागपूर्वक पारस्परिक प्रेम-भावना—ये छः वस्तुएँ ऐसी हैं, जो पृथिवी को धारण किए हुए हैं। इस नियमों के कारण सृष्टि चलती है तथा संसार स्थित है। इस पृथिवी सूक्त का दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

**असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।**
**नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥**[२]

इसका अर्थ इस प्रकार है। मनुष्यों के समक्ष जिस पृथिवी के बहुत से उन्नत, निम्न और सम प्रदेश विना बाधा के बसे हुए हैं। जो नाना प्रकार की शक्ति वाली व्रीहि, यवादि अन्न-रूप ओषधियों को धारण करती है, वह पृथिवी हमारे लिए विस्तीर्ण हो तथा वह हमारे कार्यों की सिद्ध करे।

इस पृथिवी पर समुद्र, नदी, नद, सरोवरादि हैं। पाँचों जातियाँ इसी पर उत्पन्न हुई हैं। इस पर स्थावर तथा जङ्गम जगत् तृप्ति-लाभ करता है।[३] इसी पृथिवी पर चारो दिशाएँ हैं।[४] इसी भूमि पर इन्द्र आदि देवों ने वलि आदि असुरों को पराजित

---

**१. अथर्ववेद १२.१.१**
**२. वही, १२.१.२**
**३. वही, १२.१.३**
**४. वही, १२.१.४**

किया था। इसी पृथिवी पर अश्व, मयूर, हंस आदि पक्षिगण निवास करते हैं।[1] यही पृथिवी सुवर्ण, रजत आदि धातुओं को धारण करती है।[2] इसी पृथिवी पर देव निरालस रहते हुए हमारी रक्षा करते हैं।[3] यही पृथिवी आदि में समुद्र के जल के ऊपर विराजमान् थी।[4]

पृथिवी की उत्पत्ति के विषय में अथवा स्वरूप के विषय में कुछ बातें यहाँ कहना आवश्यक है। पृथिवी आदि में आपः प्रधाना थी। इससे उसका समुद्र पर अवस्थित होना सूचित होता है। वह आदि में चलायमाना थी तथा स्थिरता बाद में आई। इस विषय में **अथर्ववेद** में कहा गया है :

**यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्र कुपितान् अरम्णात् ।**
**यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तम्भनात् स जनास इन्द्रः ॥**[5]

एक अन्य स्थान पर पृथिवी को अल्पा कहा गया है।[6] इससे ज्ञात होता है कि पृथिवी आदि में सङ्कुचित होने के कारण छोटी थी। पश्चात् में इसका विस्तार हुआ। एक अन्य मंत्र में पृथिवी को अग्निगर्भा कहा गया है :

**अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।**
**अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥**[7]

अग्नि भूमि में है। अग्नि ओषधियों में है। अग्नि को जल धारण करते हैं। अग्नि पत्थरों में है। अग्नि पुरुषों के अन्दर है। यही अग्नि गौओं और घोड़ों में है। यहाँ अग्नि का प्रवेश भिन्न-भिन्न वस्तुओं में दिखाया गया है, परन्तु उन सब वस्तुओं का आधार पृथिवी है। ये वस्तुएँ मानव के हित को साधने वाली हैं और उनका मनुष्यों से गहरा सम्बन्ध है। उन वस्तुओं को देव-स्वरूप भी माना गया है। इसके अतिरिक्त ये वस्तुएँ प्रकृतिगत भी हैं। पारस्परिक सम्बन्ध से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य प्रकृति से घिरा हुआ है और प्रकृतिगत वस्तुओं से लाभान्वित हो रहा है।

हम जिस पृथिवी पर निवास करते हैं, वह प्रकृति का एक स्थूल-रूप है। पृथिवी पर पुनः दैवत्वारोपण तथा आध्यात्मिकता का आरोप हुआ है। यह दैवत्वारोपण मनुष्य के ही कारण हैं। जब हम उससे अत्यन्त लाभान्वित होते हैं, तब आदरातिशय के कारण उसे माँ अथवा एक देवी समझने लगते हैं। वह एक धूल, कङ्कड़, पत्थर आदि से बनी है। हम उस पर अपने पद रखते हैं तथा उसका तिरस्कार करते

---

१. वही, १२.१.५
२. वही, १२.१.६
३. वही, १२.१.७
४. वही, १२.१.८
५. वही, २०.३४.२
६. निरुक्त, १.४
७. अथर्ववेद, १२.१.१९

हैं। फिर भी वह हमारी माँ है। इसका कारण यह है कि वह एक माँ के समान हमारी सेवा करती है, अत एव हम आदर, श्रद्धा, भक्ति आदि भावनाओं से उसका आदर करते हैं। उसमें अद्वितीय गुणों को देखकर एक देवी समझ बैठते हैं। फलतः उसे देवी कहा गया है।[1] पृथिवी के अनेक गुणों को देख कर चमन लाल लिखते हैं: "पृथिवी सारे संसार में प्राणियों को अपने शरीर पर धारण किए हुए है। उनके पालन-पोषण के लिए समस्त अन्न, वनस्पतियों, पेड़-पौधे उसके शरीर को निर्दयतापूर्वक चीर कर उगाये जाते हैं। परन्तु फिर भी वह हँसती रहती है। वह तो क्षमा की मूर्ति है। पृथिवी पर गंध, पुष्प, चावल, जल आदि से पूजा करते समय हमारे मन में दिव्य गुणों का भान होता है।"[2]

इस संक्षिप्त कथन द्वारा पृथिवी का दैवी रूप प्रस्तुत किया गया है। विश्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त से पृथिवी का गहरा लगाव अथवा सम्बन्ध है। द्यौस् द्युलोक का वाचक है तथा उसका घनिष्ठ सम्बन्थ पृथिवी से है। इसकी पुष्टि द्यावापृथिवी, रोदसी, क्रन्दसी आदि से होता है। द्यौस् को पिता तथा पृथिवी को माता कहा गया है। द्यौस् का आध्यात्मिकता से सम्बन्ध है और जब पृथिवी उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और एक समान अथवा समवर्ती विचार से सम्बद्ध है, तो द्यौस्-सम्बन्धी विचार-धारा का सम्मिलन पृथिवी में दिखाना उसकी आध्यात्मिकता को उभारना है।

## २. पर्जन्य:

पर्जन्य मेघ का वाचक है। वेद में इसे जल का देव माना गया है। **ऋग्वेद** में जल-वर्षण से इन्द्र, पर्जन्य तथा सरस्वती का घनिष्ट सम्बन्ध है। इनके अतिरिक्त भारतीय वरुण को भी जल का देव मानते हैं। वरुण को जल का देव मानना अवैदिक अर्थात् वैदिकेतर परिप्रेक्ष में है। **ऋग्वेद** में उसे नैतिकता का देव माना गया है तथा वह नियम का धारक है। जो लोग शाश्वत् नियम का उल्लंघन करते हैं, वरुण उनको दण्ड देता है। इसके दण्ड के भय से भय-भीत होकर लोग अपने-अपने कार्य का पालन करते हैं। देवता भी उसके नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। ऐसे देव का वर्षण के जल से सम्बन्ध नहीं हो सकता। पर इतना अवश्य है कि नदियों, समुद्रों, कुपों, तालाबों आदि के ठहरे हुए जल से इसका सम्बन्ध अवश्य माना गया है। यहाँ **ऋग्वेद** का एक मंत्र द्रष्टव्य है:

**वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।**
**वेद नाव समुद्रिय:** ॥[3]

इस मन्त्र में 'समुद्रियः' आया है, जिसका अर्थ सायण ने 'समुद्र में स्थित वरुण देवता' किया है। इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में उसे **'पत्स्यासु आनिषसाद'** कहा

---

१. वही, ६.१०.१; १२.१.६, १४, २२, ५५

२. डॉ० चमन लाल गौतम, **वेद रहस्य** (संस्कृति संस्थान, बरेली, १९७३), पृ० १८

३. ऋ० १.२५.७

४. वही, १.२५.१०

गया है। सायण ने पत्स्यासु का अर्थ 'दैवीप्रजासु' किया है। पीटर्सन ने इसका अर्थ घर तथा पिशेल ने 'जलमय लोक' अर्थ किया है। इस प्रकार वर्षा के जल अथवा मेघ से वरुण का सम्बन्ध नहीं के बराबर है। मैकडानेल के अनुसार वरुण का रूप चारो ओर फैले हुए आकाश से आच्छादित सा है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, पर्जन्य तथा सरवस्ती ही वर्षा के जल से सम्बद्ध हैं। ये प्रकृति के विभिन्न रूप हैं। नीचे हम देखेंगे कि कैसे किस प्रकार के ये प्रकृति के रूप हैं तथा मानवों से इनका सम्बन्ध क्या है।

पर्जन्य से अभिप्राय साक्षात् मेघ से है, जो अन्तरिक्ष स्थानीय है। वह प्राकृतिक जल का सामूहिक स्रोत है। **तैत्तिरीय-आरण्यक** में सात प्रकार के मेघ वर्णित हैं। उनके नाम वराहव, स्वतपस्, विद्युन्महस्, धूपि, श्वापि, गृह-मेध तथा शिमिविद्वष् हैं।[१] यह **ऋग्वेद** का साधारण कोटि का देव है। वहाँ इस की स्तुति ३ सूक्तों में की गई है। यह ओषधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करने वाला है। इसके बरसने से अङ्कुर निकल आते हैं। पृथिवी हरी-भरी हो जाती है। यह गौओं, घोड़ियों तथा अन्य मादा जातियों में गर्भाधान की सामर्थ्य को उत्पन्न करता है। इस का स्थान आकाश है। यह जल बरसाने के लिए बिजली तथा सिंह-गर्जनाओं के साथ आकाश में आता है। प्रकृत प्रसङ्ग में मेघ के स्वरूप का निरूपण **अथर्ववेद** की कुछ ऋचाओं के माध्यम से देखना उचित है। **अथर्ववेद** की एक ऋचा में उसके गरजने, कड़कने आदि की ओर सङ्केत है।[२] एतद्विषयक एक ऋचा निम्नलिखित है :

**विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।**
**विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥**[३]

इस का अर्थ इस प्रकार है। हम वाण के पिता मेघ को, जो अनेक रूपों में संसार का भरण-पोषण करने वाला है, जानते हैं। इसकी माता विविध रूपधारिणी पृथिवी को भी भली प्रकार जानते हैं। यहाँ मेघ को संसार का भरण-पोषण करता हुआ दिखाया गया है। वह संसार का भरण-पोषण उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार पृथिवी करती है। वस्तुतः मेघ भरण-पोषण का सारा कार्य पृथिवी द्वारा ही करता है, क्योंकि उसका जल पृथिवी पर गिरता है तथा यहाँ धन-धान्य, ओषधि, वनस्पति, पशु, मानव आदि की उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है। जल के अभाव में पृथिवी नीरस है। उसके अभाव में अकाल तथा मरण का राज्य ही होगा। जल के स्रोत अनेक हैं, परन्तु अजस्र स्रोत मेघ है। इसके बरसने से अनेक रोग शान्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में एक उदारण निम्नलिखित है :

**विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।**
**तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥**[४]

---

१. उद्धृत डॉ० हरिदत्त शास्त्री (व्या०) **ऋक्-सूक्तसङ्ग्रह**(मेरठ, १९७४),पृ० ७३
२. **अथर्ववेद**, ४.१५.६
३. **वही**, १.२.१ ४. **वही**, १.३.१

इसका अर्थ इस प्रकार है। सरकण्डा या बाण के पिता सैकड़ों शक्तियों से युक्त मेघ को हम अच्छी तरह जानते हैं। उस शर के द्वारा, हे मूत्रकृच्छ् रोगी ! तेरे शरीर के लिए आरोग्य उत्पन्न करता हूँ। तेरा मूत्रस्राव 'बाल्' ऐसा शब्द करता हुआ बाहर पृथिवी पर हो अथवा बल या प्राण देने के लिए बाहर आये।

एक अन्य मंत्र में मेघ के अनेक लाभों की ओर सङ्केत किया गया है, जिनसे लाभान्वित होने वाले अन्ततोगत्वा मनुष्य हैं :

**समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।**
**वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥**[1]

इसका अर्थ यह है कि बड़े बलशाली और महान् दानी मरुद्गण बादलों को भली-भाँति दिखलाएँ। जलों के रस स्वयं को ओषधियों से संयुक्त करें। वर्षा की बौछारें पृथिवी को महिमाशालिनी बनावें। सब प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, व्रीहि, यवादि अन्न भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्पन्न हों।

मेघ प्रकृति का एक ज्वलन्त उदारण है। यह मानव का अत्यन्त हित-साधक है। इसकी उदारता को कौन नहीं जानता है। यह अन्न को उत्पन्न कर हमारा भरण-पोषण करता है। अनेक प्रकार के अन्नों का साधन है। वनस्पतियों का पति है। मानव-हित के लिए जटी-बूटियों को उत्पन्न करता है। अथर्ववैदिक काल में तो जटी-बूटियों की महती महत्ता थी। यही कारण है कि **अथर्ववेद** में अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों का प्रभूत वर्णन है।

प्रकृति के इस रम्य रूप पर भी दैवत्वारोपण हुआ है तथा उस पर आध्यात्मिकता का आरोप पाया जाता है। **ऋग्वेद** में तीन सूक्त पर्जन्य से सम्बद्ध हैं तथा उन सबका देवता पर्जन्य ही है। पर्जन्य की देवता-रूप में अभिव्यक्ति इससे भी होती है कि उसकी स्तुति अन्य देवों के साथ हुई है। ऐसे देवियों तथा देवों में वायु, अग्नि,[2] त्वष्टा, ब्रह्मणस्पति, अदिति,[3] सविता, उषा[4] तथा इन्द्र[5] प्रमुख हैं। इन्द्र ऋग्वैदिक आर्यों का एक प्रमुख देवता है। पर्जन्य तथा इन्द्र का घनिष्ठ सम्बन्ध **ऋग्वेद** में उपलब्ध होता है। इन्द्र के कई शत्रु मेघ में छिपे रहते हैं, अत एव वह अपने पवि से उनका हनन करता है। इससे वृष्टि होती है, जिस कारण से मनुष्य इन मेघ तथा इन्द्र की स्तुति अनेकशः करते हैं। इस स्तुति से मेघ देव-रूप में हमारे सामने आता है। मैक्डानेल ने पर्जन्य की

---

१. वही, ४.१५.२-३
२. ऋग्वेद, ३.२१.१०
३. वही, ६.४.१
४. वही, १९.१०.१०
५. वही, २०.१३८.१

तुलना लिथुआनियन देवता पर्कुनस से की है। पर्कुनस वहाँ गर्जन का देवता है।[1] उस देव के साथ तुलना करने के कारण पर्जन्य स्वयं एक देव ही है। पर्जन्य देवता के साथ-साथ उर्वरता का प्रतीक है। वह स्त्रियों आदि में उर्वरता प्रदान करता है।[2] ओषधियों तथा वनस्पतियों का तो वह स्वामी है ही।[3] सामान्य जागतिक पदार्थ में अलौकिकता का अभाव होता है। यह अलौकिकता उसके कार्य, प्रभाव तथा मनुष्यों की उसके प्रति प्रकट की गई भावना से अभिव्यक्त होती है। सामान्य वस्तु में माता, पिता, सखा, बन्धु आदि की काल्पनाएँ नहीं पाई जाती हैं। वैदिक जिन वस्तुओं में इस प्रकार की कल्पनाएँ हैं, वे सर्वप्रथम उस वस्तु के दैवी होने पर प्रकट होती हैं। यह वेद की एक सामान्य परिपाटी है कि जैसे ही कोई व्यक्ति या ऋषि किसी वस्तु से लाभान्वित होता है अथवा प्रभावित होता है, वह उसके सामने नत-मस्तक हो जाता है। वह उसकी अर्चना करता है तथा उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। मेघ **ऋग्वेद** का एक गौण पदार्थ है, परन्तु इसकी गणना अन्तरिक्ष-स्थानीय देवों में की जाती है।

इस पर्जन्य का आध्यात्मिक रूप भी वेदों में प्राप्त होता है। विश्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त से हमें ज्ञात होता है कि सृष्टि के लिए जल की आवश्यकता होती है। वेदों से स्वयं इसका रहस्योद्‌घाटन होता है कि जब प्रजापति सृष्टि करना चाहते थे, तब उन्होंने सर्वप्रथम अपने को जलों से सम्बद्ध किया है। जलों ने गर्भधारण किया और सृष्टि-प्रक्रिया आगे बढ़ी।[4] प्रजापति इस सृष्टि की प्रक्रिया में अध्यातमा से इस अर्थ में जुड़ हुआ है कि संसार के सर्जन की आदि सत्ता ब्रह्म अथवा आत्मा है। इसकी कार्य-कारिणी शक्ति का नाम प्रजापति है।

पुरुष-सूक्त **ऋग्वेद** के दार्शनिक अथवा अध्यात्म-सम्बन्धी सूक्तों में से एक है। **अथर्ववेद** में पुरुष के निर्माण के विषय में प्रश्न किया गया है।[5] इसका सम्बन्ध ब्रह्म से दिखाया गया है।[6] **अथर्ववेद** में ही एक अन्य स्थल पर इस पुरुष को यज्ञ, सोम, अग्नि,

---

१. ए० ए० मैक्डानेल, **वैदिक माइथालोजी**, पृ० ८४
२. **अथर्ववेद**, ७.१०२.२
३. **वही**, १.२.१, ३.६; ४.१५.२, ३, १६
४. श० ब्रा० ६.१.३.१; जान डाउसन, **क्लासिकल डिक्शनरी ऑफ हिन्दू माइथालोजी**, पृ० ३३०
"Prajapati was this Universe, Vach was a second to him. He associated sexually with her; she became pregnant; she departed from him; she produced these creatures; she again entered into Prajapati."
५. **अथर्ववेद**, १०.२.१
६. **वही**, १०.२.२८

पर्जन्य आदि का अनुगमन कर्त्ता बताया गया है ।[1] इस पुरुष से सम्बद्ध होने के कारण पर्जन्य की आध्यात्मिकता में संदेह नहीं किया जा सकता ।

## ३. सूर्य :

दृश्यमान प्राकृतिक वस्तुओं में सूर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह द्युलोक स्थानीय है । इसका मनुष्य से गहरा सम्बन्ध है । यह दिन का कर्ता है । यह सब में जीवन तथा प्राण को धारित करता है । यदि सूर्य न हो, तो जागतिक वस्तुओं की वृद्धि नहीं हो सकती है । इसकी किरणें पृथिवी पर आती हैं तथा वे ही वस्तुओं में आवश्यकतानुसार उष्णता आदि को देती हैं, जिससे उनका विकास होता है । सूर्य अग्नि का महान् स्रोत है । पृथिवी स्थानीय अग्नि उसी का प्रतीक है, अर्थात् वह सूर्य ही पृथिवी स्थानीय अग्नि के माध्यम से सब में व्याप्त है । वही सूर्य आकाश में विद्युदग्नि का प्रतीक है अथवा विद्युदग्नि-रूप में अवस्थित है । यह विद्युत् जल बरसाने में अत्यन्त सहायक है । सूर्य अपनी किरणों को पर्जन्य पर फेंक कर जल बरसाता है । वृष्टि का स्रोत सूर्य ही है । वह अपनी उष्णता को अपनी किरणों के माध्यम से पृथिवीस्थ जल पर डालता है । अत्यधिक गर्मी से जल भाप का रूप धारण कर मेघ बन जाता है तथा वही पुनः वृष्टि कर धरती को आद्र बनाता है । भूगोल-वेत्ताओं का कथन है कि सृष्टि के आदि में सूर्य था । वह जलता हुआ आग का गोला था । कालान्तर में इस का कुछ भाग टूट कर पृथिवी पर गिर गया । वही भाग जल-वृष्टि के कारण ठण्डा होकर पृथिवी बन गया । कहा जाता है कि आज भी पृथिवी में गर्मी है तथा वह सूर्य के प्रभाव के कारण ही है । प्रकाश का सबसे बड़ा स्रोत सूर्य है । यदि यह नहीं होता, तो चारो ओर अंधकार ही अंधकार होता । सूर्य मनुष्यों को जगाता है तथा वे अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं ।[2] **ऋग्वेद** के **१२** सूक्तों में सूर्य का स्तवन हुआ है । **अथर्ववेद** में भी इसका प्रभूत वर्णन उपलब्ध होता है । **अथर्ववेद** के द्वितीय काण्ड के **२१** वें सूक्त में सूर्य का निम्नलिखित रूप वर्णित है :

**सूर्य यत् ते तपस्तेन तं प्रति तप यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥**[3]

हे सूर्य, तुम्हारा जो ताप है, उससे उसको तपाओ, जो हम से द्वेष करता है, या हम जिससे द्वेष करते हैं ।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है :

**सूर्य यत् ते हरस्तेन तं प्रति हर यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।**[4]

---

१. **वही, १०.२.२६**

२. **ऋ० ७.६३.१**

३. **अथर्ववेद, २.२१.१**

४. **वही, २.२१.२**

हे सूर्य, अपने क्रोध का पात्र उसे बनाओ, जो हम से द्वेष करता है या हम जिससे द्वेष करते हैं।

तृतीय मंत्र इस प्रकार है :—

**सूर्य यत् तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म :।**[1]

हे सूर्य। तुम्हारी जो तीक्ष्ण किरण-रूपी ज्वाला है, उससे उसको दग्ध करो, जो हमारा द्वेषी है।

चतुर्थ मंत्र निम्नलिखित प्रकार का है :

**सूर्य यत् ते शोचिस्तेन तं प्रतिशो च यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।**[2]

हे सूर्य ! अपनी शोषक दीप्ति से उसे सुखा दो, जो हमारा द्वेषी है।

पञ्चम सूक्त में वर्णन इस प्रकार का है :

**सूर्य यत् ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।**[3]

हे सूर्य ! तुम्हारा जो लोक-प्रसिद्ध तेज है, उस से हमारे शत्रु को तेजहीन कर दो।

यहाँ सूर्य का तेजस्वी-रूप वर्णित है। ऐसे सूर्य से मनुष्य का गहरा सम्बन्ध है। यहाँ इन सभी मन्त्रों में सूर्य से स्तोता प्रार्थना कर रहा है कि वह अपने तेज से शत्रु का नाश कर दे। सूर्य का मनुष्य से सम्बन्ध दिखाते हुए कहा गया है :

**तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।**
**युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥**[4]

इस मंत्र में वर्णित है कि रङ्ग-बिरङ्गी किरणों वाले सूर्य के उदित होने पर सब मनुष्य शुभ कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

सूर्य-सम्बन्धी **अथर्ववेद** का एक अत्यन्त रोचक मन्त्र निम्नलिखित है। मंत्र से ज्ञात होता है कि सूर्य मनुष्य का अत्यन्त ही हितैषी है। वह मनुष्य के अनेक विध कार्यों का सम्पादन करता है :

**दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे।**
**स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिशः आभाति सर्वाः॥**[5]

यहाँ मंत्र में दिखाया गया है कि सूर्य मनुष्य का अत्यन्त हितकारी है। मनुष्य के कार्य के सम्पादनार्थ दिशाओं में भ्रमण करता है। यहाँ सूर्य से दिशाओं को प्रकाशित दिखाया गया है और मनुष्य उस में भ्रमण कर रहा है। यहाँ दिशाओं में घूमने से

---

१. **वही,** २.२१.३
२. **वही,** २.२१.४
३. **वही,** २.२१.५
४. **वही,** ४.२५.३
५. **वही,** १३.२.२

तात्पर्य अपने कार्य को करने से है। दिशाएँ प्रकाशित हैं, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य ज्ञान के साथ कार्य कर रहा है और उसको सिद्धि मिलने की पूर्ण सम्भावना है। आज भी कहा जाता है कि जो व्यक्ति मूर्ख होता है, उस की दशाएँ सूनी होती हैं। यहाँ सूर्य का दूसरा लोक- कल्याणी पक्ष उभर कर आया है। एतदर्थ मंत्र में उसे लोक-त्राता (भुवनस्य गोपा) कहा गया है। यहाँ उसे प्राणिजात का कल्याण-कर्त्ता बताया गया है।

सूर्य, चन्द्र आदि मनुष्य के भाग्य के अनुसार फल देते हैं। यह कल्पना ज्योतिषशास्त्र में सविस्तार वर्णित है। इस अभिप्राय का सङ्केत **अथर्ववेद** की एक ऋचा में है :

**शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।**
**शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥**[1]

श्रीकण्ठशास्त्री ने इस मंत्र के पीछे छिपी भावना को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट कर दिया है :

"प्रकृत मंत्र में स्पष्टतया निर्देश दिया गया है कि चन्द्रादि ग्रह, धूमकेतु आदि पुच्छल तारे और सूर्य चन्द्र ग्रहणादि का हम भूलोकवासियों पर शुभाशुभ प्रभाव पड़ता है। यहाँ मंत्र में उसी दुष्प्रभाव को शान्त करने के लिए प्रार्थना की गई है। इस प्रभाव का विस्तृत विवेचन ज्योतिःशास्त्र में किया गया हैं और फलित ज्योतिष, जो कि ग्रह दशाजन्य प्रभाव का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाला है, अपनी मूल भित्ति **अथर्व** के इन्हीं सूक्तों पर आधारित करता है। इस विषय का विशेष विवेचन हमारे क्यों पूर्वार्ध में द्रव्य है। **मृत्युः** धूमकेतुः—मारकः धूमकेतु—उत्पातः। यथा कौशिकः— **अथ यत्रैतद् धुमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तदयोगक्षेमाशङ्कम्** (कौ० १३.३५)।"[2]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि सूर्य का मनुष्य से कितना गहरा सम्बन्ध है। सूर्य सभी मनुष्यों के बुरे भले कार्यों को निहारता है।[3] मानव के प्रेरक के रूप में सूर्य उदित होता है।[4] वह अनिशित चराचर के लिए चमकता है।[5] सूर्य का चमकना देवों तथा मनुष्यों के हित के लिए है।[6] मानव-शरीर अत्यन्त कोमल तथा सुकुमार है। यह दुःखों, पापों आदि से ताडित शीघ्र ही नाश को प्राप्त कर सकता है। प्रकृति के अनेक पदार्थ इस शरीर को बल प्रदान करते हैं और शक्ति देते हैं,

---

१. **वही**, १९.९.१०
२. श्रीकण्ठशास्त्री (व्याख्या०) **अथर्ववेद संहिता**, भाग ४ (दिल्ली, सम्वत् २०३५), पृ० १९१
३. **ऋ०** १.५०.७
४. **वही**, ७.६३.२
५. **वही**, ७.६३.१
६. **वही**, १.५०.५

जिनके आधार पर शरीर अथवा मानव जीता है। **ऋग्वेद** में सङ्केत मिलता है, जहाँ कहा गया है कि सूर्य बीमारी को नष्ट करता है। इसी प्रकार वह अनेक दुःस्वप्नों को नष्ट करता है।[1] मनुष्य के जीवन की सार्थकता इस में है कि वह सूर्योदय का दर्शन करे।[2]

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में सूर्य का मानव से सम्बन्ध दिखाया गया है। मनुष्य सूर्य का अत्यन्त ऋणी है, क्योंकि उसने ही मानव के जीवन को जीवन बनाया है। वह निरन्तर मानव-हित में निरत रहता है। उससे उपकृत हुआ मानव क्यों न सूर्य को अतिप्राकृतिक माने। सूर्य का अप्राकृतिक रूप दो स्वरूपों में हमारे सम्मुख आता है। वह या तो देव है अथवा अध्यात्म-कोटि को पहुँच चुका है। यहाँ हम सर्वप्रथम उस के आधिवैदिक रूप को देख रहे हैं तथा पुनः उसकी आध्यात्मिकता पर विचार करेंगे।

**ऋग्वेद** में अनेक स्थानों पर सूर्य को देव कहा गया है। **ऋग्वेद** में एक स्थान पर वर्णित है कि '**तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वम्**।[3] सूर्य देवता है, तभी उससे प्रार्थनाओं की सार्थकता है। जब ऋषि किसी वैदिक वस्तु की प्रार्थना अथवा स्तुति करता है, तो वह अपने मन में यह मान बैठता है कि वस्तु जागतिक वस्तु नहीं है, अपितु दिव्य है। वह तभी उस के सामने नत-मस्तक होता है। सूर्य के साथ भी इसी प्रकार की कल्पना पाई जाती है।[4] **अथर्ववेद** तथा **ऋग्वेद** में सूर्य को नेत्राभिमानी देवता बताया गया है। **अथर्ववेद** में एक स्थल पर वर्णित है कि सूर्य से नेत्र को ज्योति प्राप्त होती है।[5] **ऋग्वेद** में एक स्थल पर कहा गया है कि मृतक के नेत्र सूर्य के पास चले गये हैं :

**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।**
**अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥**[6]

इस कथन से हमारा ध्यान उपनिषद् की उस उक्ति की ओर जाता है, जहाँ कहा गया है कि देवों के दो रूप होते हैं। उनका एक रूप स्थूल होता है तथा दूसरा रूप सूक्ष्म होता है। वे अपने स्थूल रूप से भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राकृतिक वस्तुओं में निवास करते हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप से मनुष्य के शरीर में वास करते हैं। एतद्विषक स्थल निम्नलिखित है :

"**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रतिशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्र भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। ओषधिवनस्पतयो**

---

१. **वही**, १०.३७.४
२. **वही**, ४.२५.४
३. **ऋग्वेद**, १.११५.४
४. **वही**, १.११५.६ ; ८.४८-७ ; १०.३७.५
५. **अथर्ववेद**, ८.२.३
६. **ऋ०** १०.१६.३

**लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।"**[१]

इसके अनुसार सूर्य देवता का निवास मनुष्य के नेत्र में है।

सूर्य पर आध्यात्मिकता का आरोपण अत्यन्त साकार रूप से वेदों में वर्णित है। सूर्य प्रकाश का प्रतीक है। ब्रह्म भी प्रकाश-स्वरूप है, अत एव उसे 'ज्योतिर्ब्रह्म' कहा गया है। **ऋग्वेद** में एक स्थल पर सूर्य को स्थावर तथा जङ्गम की आत्मा कहा गया है :

**चित्रं देवानामुपगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।**
**आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥**[२]

यही मंत्र **अथर्ववेद** में भी आया है।[३] **कठोपनिषद्** में एक स्थान पर हंस का वर्णन उपलब्ध होता है। यह आकाश में स्थित है तथा आत्मा का प्रतीक है। सूर्य प्रकाश का जनक है। यह प्रकाश सत्य ज्ञान का प्रतीक है तथा सत्य ज्ञान को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है : 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।[४]

**ताण्ड्यमहाब्राह्मण** में आदित्य का जन्म प्रजापति के मूर्धा से प्रकल्पित है। **प्रजापतिरकामयत। बहु स्याँ प्रजाययेति सोऽशोचतस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृजत।**[५]

वस्तुतः सूर्य को ही आदित्य कहा गया है। अदिति का पुत्र होने के कारण ही सूर्य को यह संज्ञा मिली है अदिति देवों की माँ है तथा आध्यात्मिकता का भाव इसके साथ जुड़ा है, अत एव सूर्य पर प्रखर रूप से आध्यात्मिकता की आक्षिप्ति है।

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में पृथिवी स्थानीय पृथिवी, अन्तरिक्ष स्थानीय पर्जन्य तथा द्युस्थानीय सूर्य का वर्णन किया गया है। इस वर्णन द्वारा यह प्रस्थापित किया गया है कि उन का मनुष्य से कैसे-कैसे सम्बन्ध है। उन सम्बन्धों के कारण उन वस्तुओं पर दैवत्वारोपण तथा आध्यात्मिकता का आरोपण हुआ है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य भी प्राकृतिक पदार्थ हैं, जिनका भिन्न-भिन्न स्थानों से सम्बन्ध है। प्रकृति के पदार्थ मनुष्य के हित के लिए ही हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित है। ऊपर पृथिवी का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त पृथिवी स्थानीय पदार्थ अग्नि नदियाँ, सोम, अश्व, गो, वृषभ, पशु, पक्षी, ओषधि आदि हैं।

**ऋग्वेद** में अग्नि का स्थान द्वितीय है। अग्नि-सम्बन्धी २०० ऋचाएँ **ऋग्वेद** में हैं। अग्नि पृथिवी पर अनेक रूप में दिखाई देता है। इस का प्रयोग यज्ञ में होता है।

---

१. ऐ० उ० १.२.४
२. ऋ० १.११५.१
३. अ० वे०, २०.१०७.१४
४. गजानन (सम्पा०) **उपनिषद्वाक्यमहाकोश** (गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, १९४०), पृ० ६२७
५. ता० ब्रा० ६.५.१

हमारे गृह-कार्य में अग्नि का प्रयोग नित्य होता है। यह अग्नि पृथिवी के सभी पदार्थों में व्याप्त है। यह अग्नि सूर्य का ही एक रूप है तथा अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में अभिव्याप्त है। अग्नि की तीन विशेषताएँ हैं (क) नेतृत्व शक्ति से सम्पन्न होना, (ख) यज्ञ की आहुतियों को ग्रहण करना, (ग) तेज एवं प्रकाश का अधिष्ठाता होना। अग्नि का मनुष्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। **ऋग्वेद** के एक मंत्र में वर्णित है कि याज्ञिक लोग उन्हें अश्व की भाँति फेरते हैं।[१] अग्नि को लोग देवों के वाहन के रूप में में समिद्ध करते हैं।[२] अग्नि यजमानों की बलियों को देवताओं तक ले जाता है।[३] वह अन्धकार को दूर करता है तथा मानव के लिए प्रकाश लाता है।[४] देव मनुष्य का अनेक प्रकार से कल्याण करते हैं। अग्नि के सम्बन्ध से कहा गया है कि उन्होंने अग्नि को उत्पन्न किया।[५] उन्होंने आर्यों को प्रकाश के रूप में अग्नि को दिया।[६] देवों ने मनुष्यों के प्राण के रूप में अग्नि को उत्पन्न किया।[७] मनुष्यों के हित के लिए देवों ने उनके मध्य में अग्नि का आधान किया।[८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अग्नि का मनुष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अत एव उसे देव की कोटि में प्रमुख माना गया है। **अथर्ववेद** की अनेक ऋचाएँ उसके देवत्व का प्रख्यापन करती हैं। वह देवों तथा यजमानों के मध्य मध्यस्थता का कार्य करता है। वह पूजकों की हवियों को देवों के पास ले जाता है तथा उन्हें यज्ञ में ले आता है।[९] **अथर्ववेद** की एक ऋचा निम्नलिखित है :

**इन्द्रस्य गृहोऽसि तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः।**
**सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥**[१०]

इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने! तुम इन्द्र का घर हो। सर्वत्र गमनशील, सर्वपुरुष रूप सब के आत्मा, सब के शरीरान्तर्वर्ती हो। जो कुछ भी मेरा है, उन सब के साथ तेरी शरण में आता हूँ।

मानव के जीवन में नदियों का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल में नदियों ने वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योग दिया था। नदियों से

१. **ऋग्वेद**, ३.२.७
२. **वही**, ३.२७.१४
३. **वही**, १०.५१.७
४. **वही**, १.९४.५; ७.६.२
५. **वही**, ६.७.१
६. **वही**, १.५९.२
७. **वही**, १०.४६.९
८. **वही**, १.३६.१०
९. **अथर्ववेद**, ७.१०२.३; १९.५९.३ इत्यादि।
१०. **वही**, ५.६.११

देश की पृथिवी हरी-भरी होती है। अन्नादि की अधिकता होती है। नदियाँ पहाड़ों से उपजाऊ मिट्टी बहा कर लाती हैं तथा मैदानों में डाल कर खेतों को उपजाऊ बनाती हैं। **अथर्ववेद** की एक ऋचा में इस ओर सङ्केत है।[१] भारत में सप्तसिन्धु नदी का महत्व आदि से रहा है। **अथर्ववेद** में भी इस ओर सङ्केत है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि वे अन्नादि को बढ़ाती हैं :

**विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इन्द्रायो मघवा वस्व ईशते।**
**तस्येदिमे प्रणवे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः॥**[२]

इसका अर्थ यह है कि इन्द्र चारो ओर से वाढ़ की तरह रोकने वाला है दरिद्रता और भूख को। वह इन्द्र ही धन एवं उत्तम पदार्थों का ईश है। उससे ही प्रेरित ये गङ्गादि सातों नदियाँ उस शक्तिमान् एवं सुखवर्षक के बल को या तत्प्रदत्त अन्न को बढ़ाती हैं। यहाँ इन्द्र को नदियों का जनक बताया गया है। वस्तुतः वह ही जलों को मेघ-भेदन द्वारा पृथिवी पर बहने के लिए प्रेरित करता है। जल पाकर नदियाँ प्रवाहित हो जाती हैं। नदियों का मनुष्यों के जीवन से गहरा सम्बन्ध है। **अथर्ववेद** में सरस्वती, अंशुमती, सिन्धु, परुष्णी आदि नदियों का वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु इन में सरस्वती सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वेद में नदियों का विशेष-विशेष रूप तथा उन पर तत्तद् देवियों का आरोप मिलता है। इस विषय में **निरुक्त** का मत अवलोकनीय है। यद्यपि यह कथन सरस्वती के विषय में है, परन्तु अन्यों पर भी इसका आरोप होता है :

**तत्र सरस्वत्येकस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।**[३]

पृथिवी-स्थानीय प्राकृतिक वस्तुओं में सोम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों में सोम-विषयक परिकल्पना अत्यन्त विचित्र है तथा एतत्सम्बन्धी विचार-धारा रहस्यों के परिवेश में है, जिसका उद्घाटन विभिन्न प्रकार से किया गया है। सोम के भौतिक रूप को मुख्यतः तीन रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है। कुछ विद्वान् चन्द्रमा को ही सोम मानते हैं। कुछ का कथन हैं कि सोम आकाश-बल्ली है, जिस की न जड़ है और न आधार का स्थल है। तीसरे मत के अनुसार सोम एक पृथिवी स्थानीय पौधा है, जिसे पीस कर रस निकाला जाता था तथा यज्ञों में इन्द्र आदि देवों को अर्पित किया जाता था। सोम-विषयक एक ऋचा निम्नलिखित है :

**सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।**
**अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥**[४]

इसका अर्थ यह है कि सोम के कारण अदिति के पुत्र बलवान् हैं। सोम से ही

---

१. **वही,** १.८.१
२. **वही,** २०.१७.३
३. **निरुक्त,** २.२३
४. **अथर्ववेद,** १४.१.२

पृथिवी महिमा वाली है। सोम ही इन नक्षत्रों की गोद में स्थित हो कर चमकता है। यहाँ स्पष्टतः चन्द्रमा की ओर सङ्केत है। एतत्सम्बन्धी एक ऋचा निम्नलिखित है :

**सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिषन्त्योषधिम्।**
**सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥**[1]

इसका अर्थ यह है कि जब याज्ञिक लोग पान करने हेतु सोम-लता ओषधि को पीसते हैं, तो उसे पीकर मैं ने सोम को पी लिया, ऐसा समझते हैं, लेकिन जिस को ब्राह्मण लोग सोम के रूप में मानते हैं, राजा भी उसको नहीं खा सकता है। श्रीकण्ठ-शास्त्री ने इस सन्देह को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है। "मंत्र में यह समझाया गया है कि वेद में सोम का अर्थ सोम-लता नामक औषध का रस प्रसिद्ध है अतः झटिति इसी अर्थ का बोध होता है। पर सोम का वास्तविक अर्थ है चन्द्रमा, जो इस सोमलता का भी परिपोषक है। ऋचा कहती है सोम के इस दूसरे अर्थ में जो सोम शब्द का प्रयोग है उस पर ध्यान दो। सोम-ओषधि-विशेष को पीकर यहाँ डींग न मारो कि हम ने सोम को पी लिया अर्थात् पचा गये। अरे भद्र पुरुषो, सोम को साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या बड़े से बड़ा राजा भी नहीं पी सकता। सोम तो ब्राह्मणों का राजा होता है—**'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** (यजुर्वेद)। अतः औषध अर्थ में सोम को गौण समझना चाहिए।"[2]

यहाँ सोम को चन्द्रमा के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसका पान देव-गण करते हैं। इसे देवों के साक्षात् सम्बन्ध से सोम माना जा सकता है, परन्तु सोम का ओषधि-विशेष से प्रतिकार नहीं किया जा सकता। **ऋग्वेद** के मण्डल ९ तथा १० में सोम पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इन दोनों मण्डलों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सोम का यज्ञ, यज्ञमान तथा पुरोहित से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि इस अवस्था में पार्थिव सोम का निराकरण कर दें, तो सोम-विषयक ऋचाओं का वास्तविक मूल्य ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि ऋचाएँ यज्ञपरक नहीं होंगी और विनियोग का अभाव होगा। सोम का पीसना तथा देवों को अर्पित करना वेद में प्रसिद्ध है। केवल चन्द्रमा को सोम मान लेने पर इन सारी वैदिक प्रक्रियाओं का हनन हो जाएगा। **अथर्ववेद** की अनेक ऋचाओं से सोम का पार्थिव रूप स्पष्ट होता है।[3] एतत्सम्बन्धी एक ऋचा इस प्रकार है :

**अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन् हरयो हरी तुरा।**
**अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमासवे॥**[4]

---

१ **वही**, १४.१.३

२. श्रीकण्ठशास्त्री (व्याख्या०), **अथर्ववेद संहिता**, भाग ३ (माधव पुस्तकालय दिल्ली, सम्वत्, २०३३), पृ० ५२५-५२६

३. **वही**, ६.२.१.३ ; ११.१.१० ; १४.१.५ ; २०.३१.१-२

४. **वही**, २१.३१.२

इस मंत्र का अर्थ है कि हरे रङ्ग के सोम उस की इच्छा पूर्ण करने हेतु पर्याप्त रूप में स्थापित किये गये हरित सोम-रसों ने इन्द्र के दोनों वेगवान् घोड़ों को युद्ध में अटल रहने वाले इन्द्र के प्रति प्रेरित किया, जो इन्द्र वेग वाले अश्वों द्वारा शान्त भाव से यज्ञ में पहुँचता है, वही इन्द्र इस यजमान की सोमसम्पादन-कालीन अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए प्राप्त कर लेता है।

इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि सोम का यजमान से सम्बन्ध है। यजमान पृथिवी-स्थानीय है तथा वह सोम को इन्द्र के लिए अर्पित कर रहा है। इस संक्षिप्त विवेचन से ज्ञात होता है कि सोम का सम्बन्ध देव, मनुष्य, यजमान तथा यज्ञ से है। सोम प्रकृति की अमूल्य और अनोखी वस्तु है। यज्ञों में अर्पणार्थ अनेक वस्तुओं की बलियाँ बनती थीं। उन बलियों में सोम की बलि शुद्ध रूप में अपने में परिपूर्ण थी। इसे स्पष्ट रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि कुछ बलियों में अनेक वस्तुओं का सम्मिश्रण होता था, परन्तु सोम-बलि अन्य वस्तु या वस्तुओं की अपेक्षा नहीं रखती थी। इस प्रकार सोम का मनुष्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस पर-सोम देव का ओपण है तथा यह आध्यात्मिकता से इस अर्थ में जुड़ा हुआ है कि इसे स्वर्गस्थ भी प्रदर्शित किया गया है।

अश्व, गो, पशु, पक्षी आदि मनुष्य के अत्यन्त समीप है। ये मनुष्य के जीवित सहचर तथा सहयोगी हैं। इन का भी **अथर्ववेद** में प्रभूत वर्णन हैं। इन सन्दर्भ में कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

**अश्वस्यास्नः सम्पतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे।**
**सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥**[1]

इस मंत्र में वर्णित है कि लाक्षा घाड़े के मुख से पतित हुई है। वह वृक्षों को विदीर्ण कर स्रवित होती है। हे घावों को भरने वाली, पक्षियों की भाँति सरकने वाली हो कर हमारे पास आ जा। यहाँ लाक्षा को अश्व के मुख से पतित दिखाया गया है। गौओं का वर्णन तो वेद में प्रभूत मात्रा में है। गौओं के साथ वृषभ का वर्णन भी मिलेगा, परन्तु वृषभ अनेक मंत्रों में कतिपय देवों की उपाधि के रूप में भी वर्णित है। पशु एवं पक्षी के दो-एक अथर्ववैदिक उदाहरण द्रष्टव्य हैं। पशुओं में उल्लेखनीय अज, व्याघ्र, हरिण आदि हैं। इन पशुओं में व्याघ्र का वर्णन निम्नलिखित है :

**अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि।**
**आत् सर्वान् विंशति नखान् ॥**[2]

इस मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि हे व्याघ्र ! तेरी आखों को और तेरे मुख को, इस के अनन्तर तेरे बीसों नाखूनों को नष्ट करते हैं।

---

१. वही, ४.५.६
२. वही, ४.३.३

पक्षियों में कपोत[1], उल्लू[2] और श्येन[3] का वर्णन ही प्रायः उपलब्ध होता है। **अथर्ववेद** में कपोत के विषय में एक ऋचा इस प्रकार है :

**शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।**
**अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥**[4]

इस मंत्र में बताया है कि हे देवों ! शत्रु द्वारा भेजा गया यह कबूतर हमारे लिए कल्याणकारी और निष्पाप बने। हमारे घर को शुभ-सूचक हो। विज्ञ अग्नि निश्चय ही हमारी हवि का सेवन करे। यह पक्षी-रूप घातक शस्त्र से दूर रहे।

पृथिवी स्थानीय प्राकृतिक वस्तुओं में अथर्ववेद में ओषधियों तथा वनस्पतियों का वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। कुछ ओषधियाँ इस प्रकार है : अञ्जन, पृश्निपर्णी, ऋतावरी, रोहणी, विषाणक, सहदेवी, पिप्पली, वरणमणि, अश्वत्थ वृक्ष, शंखपुष्पी, मधुका, विश्रुत लता; सर्षप, वाणपर्ण, प्रतिसर मणि, पाठा, जंगिड मणि, ऋषभ, लाक्षोषधि, पर्णमणि, कपित्थ, पलाश, हरिद्रा, व्रीहि, पुष्पा, तरुणक, अपराजित, गुग्गल, तिलक मणि आदि। अथर्ववेद में मणियों का मनुष्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। ये मनुष्यों के हित-साधन में निरन्तर दिखाई देती है :

**न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।**
**यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥**[5]

इस मंत्र में गुग्गुल की सुगन्ध की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि उसको क्षयादि कोई रोग नहीं घेरते हैं तथा किसी का शाप आदि भी नहीं लगता है, जिस को औषध-रूप गुग्गुल का सुन्दर गन्ध प्राप्त होता है। **अथर्ववेद** के छठें काण्ड के ५९वें सूक्त की एक ऋचा में सहदेवी ओषधि के कतिपय गुणों का वर्णन किया गया है :

**शर्म यच्छत्वोषधिः सहदेवीररुन्धती।**
**करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयउत इमा पूरुषान् ॥**[6]

इन में बताया गया है कि सहदेवी नामक इष्ट फल को प्रदान करने वाली ओषधि आरोग्य प्रदान करे। हमारी गोशाला को दूध से भर दे और हमारे भृत्यादि वर्ग को निरोग बना दे। श्रीकण्ठशास्त्री इस पर विशेष टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि "**अरुन्धती**-अभिलषितफलस्य दात्री उपरोधनशीला। इस सूक्त में सहदेवी नामक

१. वही, ६.२७.२
२. वही, ६.२९.२
३. ऋ० १.८०.२
४. अथर्ववेद, ६.२७.२
५. वही, १९.३८.१
६. वही, ६.५९.२

ओषधि के गुणों का वर्णन किया गया है । यह आयुर्वेद की सुप्रसिद्ध ओषधि है । इसके अन्य नाम हैं महाबला, पीतपुष्पा आदि—**महाबला पीतपुष्पा सहदेवी च सा स्मृता ।** इस के गुणों का वर्णन करते हुए आयुर्वेदशास्त्र में लिखा गया है—**बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत् । स्निग्धं ग्राहिमसीरास्त्रपित्तास्त्रक्षतनाशनम् ।।** (भाव० गडूची १३७) अर्थात् चारो प्रकार की बला (सहदेवी) शीतल, मधुर बल तृषा कान्तिकर स्निग्ध ग्राही और वातपित्त, रक्तपित्त, रुधिर-विकार और क्षय-नाशक है । मूत्र-विकार की यह अनुभूत औषध है ।"[१]

ओषधियाँ केशों के लिए भी उपयुक्त वताई जाती हैं । आज भी बालों को बढ़ाने तथा सुगन्धित रखने के लिए अनेक द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है । यह परिपाटी प्राचीन काल में भी प्रचलित थी । अथर्ववैदिक कुछ सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में स्त्रियाँ केश-रचना, केश-संवर्धन आदि में निपुण थीं । तदर्थ उन्हें अनेक प्राकृतिक पदार्थों के गुणों का ज्ञान था । यहाँ निम्नलिखित मंत्र-विशेष ध्यान देने योग्य है :

**रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।**
**उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनी : ।।**[२]

इस मंत्र में स्पष्टतः कहा गया है कि सामर्थ्ययुक्त अहिंसित निरोग करने वाली, हे विभीतकादि ओषधियों ! हमें आरोग्य प्रदान करने की इच्छा करो और हमारे बालों को दृढ करो, क्योंकि तुम केश को बढ़ाने वाली हो ।

इस पर विशेष टिप्पणी श्रीकण्ठ ने इस प्रकार की है : "कौशिक सूत्र (४.६) के अनुसार विभीतक हरिद्रा, (बहेड़ा,हल्दी) आदि के क्वाथ को प्रकृत सूक्त से अभिमंत्रित करके प्रातः काल शिर में सिंचन करने से केशवृद्धि होती है । ये औषधियाँ केशों को लम्बा व दृढ़ करके उन्हें पतन से बचाने वाली हैं। आयुर्वेद ग्रन्थों में बिभीतक (Terminalia Belerica) को केशों के लिए अत्यन्त हितकारी बताया गया है । यथा '**बिभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत् । रुक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम् ।** (भा० नि० १.३६) आचार्य सुश्रुत ने भी इसके तेल को बालों तथा त्वचा को काला करने वाला बताया है ।"[३]

इसी सन्दर्भ में एक ऋचा इस प्रकार है :

**यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।**
**आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ।।**[४]

---

१. श्रीकण्ठशास्त्री (व्याख्याका०) **अथर्ववेद संहिता**, भाग २ (माधव पुस्तकालय दिल्ली, संवत् २०३२), पृ० २९३

२. **अथर्ववेद**, ६.२१.३

३. श्रीकण्ठशास्त्री, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० २३०-२३१

४. **अथर्ववेद**, ६.३०.२

मंत्र का अर्थ है कि हे शमी ओषधे ! तुम्हारा जो मद केशों को उत्पादन करने वाला तथा केश-वृद्धि करने वाला है, जिस मद के द्वारा तू पुरुष को सर्वत्र हर्षयुक्त करती है। मैं तेरे अतिरिक्त दूसरे दूरवर्ती वृक्षों को काटता हूँ। तू सैकड़ों शाखा वाली होकर वृद्धि को प्राप्त होओ।

ओषधियों एवं वनस्पतियों से अनेक लाभ वेदों में वर्णित हैं। स्वतः **ऋग्वेद** का ओषधि-सूक्त अत्यन्त प्रसिद्ध है। **अथर्ववेद** में ओषधियों का सविस्तार वर्णन तथा उनके लाभ वर्णित हैं। उन लाभों में से मुख्य रक्तस्राव, सर्पदमन, वाजीनिवारण, रोग कृमिनाश, शल्य-चिकित्सा आदि विषयक लाभ प्रमुख हैं। इनके कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं।

**अथर्ववेद** के छठें काण्ड के ४४ वें सूक्त में तीन मंत्र हैं। उन में से आदि के दो मंत्रों में रक्तस्राव का स्पष्ट वर्णन है। प्रथम मंत्र इस प्रकार है :

**अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत्।**
**अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥**[1]

अर्थ है कि जिस प्रकार ग्रह-नक्षत्रमण्डल से भरा द्युलोक अपनी कक्षा में स्थित है और गिरता नहीं है, सर्वाधारभूता बन कर पृथिवी भी स्थिर है, यह सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियों का समूह-रूप संसार टिका हुआ है, खड़े-खड़े सोने वाले वृक्ष पादपादि ठहरे हुए हैं, हे रोगी पुरुष ! उसी प्रकार तेरा यह रक्त-स्रावात्मक रोग ठहर जाये। इस पूर्व मंत्र में रक्तस्राव की ओर सङ्केत कर उसकी चिकित्सा की ओर सङ्केत किया गया है :

**शतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च।**
**श्रेष्ठमास्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥**[2]

इस का अर्थ है कि हे रोगी पुरुष ! तेरे योग्य जो सैकड़ों औषधियाँ है और हजारों उनके मेल हैं, उन में यह सर्वश्रेष्ठ रक्तस्राव की औषध है। यह रोग पर नियंत्रण रखने वाली और उसका नाश करने वाली है।

**अथर्ववेद** में विष के अनेक स्रोतों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। तदर्थ विष-निवारण के अनेक उपाय हैं। विष के कारणों में सर्पों का स्थान प्रमुख है। प्राचीन काल में भरत की प्राकृति दशा आज से सर्वथा भिन्न थी। वेदों में नदियों, पर्वतों, वृक्षों, सर्पों आदि के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। उस समय जन-संख्या भी आज जैसी नहीं थी। वस्तियाँ कम थीं। जङ्गलों एवं शून्य स्थानों की अधिकता थी। यही कारण है कि उस समय जङ्गली पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़ों का बोल-बाला रहा होगा। प्रकृत सन्दर्भ में सापों का वर्णन **अथर्ववेद** में बहुलता से उपलब्ध होता है। सतत्सम्बन्धी एक मंत्र निम्नलिखित है।

---

१. वही, ६.४४.१
२. वही, ६.४४.२

**अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।**
**विषं ह्य स्यादिष्यथो एनमजीजम् ॥**[१]

मंत्रौषध के प्रभाव से निर्वीर्य हुए नीचे की ओर फन लटकाए सरकते हुए इस शर्कोट जाति के सर्प के विष को मैं ने खण्डित कर दिया है और इस को मार दिया है।

सर्प सामान्यतः पृथिवी पर रहने वाले तथा रेंगने वाले पाये जाते हैं । आकाश में उड़ने वाले सापों की कल्पना भी है । यह कल्पना बड़ी धूमिल रूप से आज भी पाई जाती है, परन्तु **अथर्ववेद** में स्पष्ट रूप से उड़ने वाले सापों की एक जाति का वर्णन है :

**तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।**
**तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥**[२]

टेढ़ी धारियों वाले एतन्नामक सर्प से, काले रंग वाले सर्प से और बड़े विषधर से इकट्ठा किया गया तथा कंक पर्व (उड़ने वाले) जाति वाले सर्प का वह जो विष है, उसे यह 'मधुक' नाम्नी औषधी नष्ट कर दे। एक अन्य मंत्र में स्पष्ट रूप से उस औषधी का वर्णन है, जो साँप के विष की निवारक है । उस औषधी की निर्मिती का वर्णन भी अत्यन्त स्पष्ट है :

**इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।**
**सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥**[३]

संसार का अर्थ है जो संसरण करे । इस से मुख्य अभिप्राय मनुष्य की निरन्तर चलने वाली सन्तान की परम्परा से है । यह संसार मनुष्यों से शोभित है । यदि मनुष्य न हो, तो संसार एक शन्यू जङ्गल हो जाये । संस्कृति तथा सभ्यता पृथिवी पर से हट जाये। प्रेम, स्नेह, श्रद्धा, भक्ति, आदर, सम्मान आदि भावों का एक मात्र स्रोत मनुष्य है। ये गुण मनुष्य को और अन्य जीवों को एक दूसरे से बाँधते हैं । प्राणियों में मनुष्यों का स्थान सर्वोपरि है । इस के अस्तित्व से संसार सज्जित है, अत एव आवश्यक है कि मनुष्य का परिवार बढ़ता रहे । यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य स्वस्थ हो, वीर्यवान् हो तथा उस में पौरुष हो । वन्ध्यापन पुरुष तथा स्त्री—दोनों के लिए अभिशाप है । **अथर्ववेद** के अनेक मंत्रों में वर्णन मिलते हैं, जहाँ वर्णित है कि मनुष्य का वीर्य प्रबल रहे, जिस से उस की सन्तति निरन्तर बढ़ती रहे । मनुष्य में वन्ध्यापन यदि आ जाये या आ गई है, तो **अथर्ववेद** की ऋचाओं में वर्णित है कि उन्हें औषधियों के सेवन से दूर किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में कुछ मंत्र द्रष्टव्य हैं :

---

१. **वही**, ७.५८.५
२. **वही**, ७.५८.१
३. **वही**, ७.५८.२

**यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति ।**
**ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ।।**[1]

इस का अर्थ यह कि जैसे मैथुन के लिए आरोहरण करने पर तेरा श्वास ज्वरार्त पुरुष की भाँति चलने लगता है, इस लिए यह शतावरी आदि ओषधियाँ तुझे अधिक बलशाली बनायें।

एक अन्य मंत्र में यही भाव स्पष्टतर है :

**उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम् ।**
**सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ।।**[2]

वीर्यवर्धक ऋष्मादि ओषधियों की वीर्य-रूप एवं सार-रूप यह औषध इस पुरुष को ऊपर करे। शरीर को वश में रखने वाले हे इन्द्र ! इस व्यक्ति के शरीर में पुरुषों का पौरुष प्रदान कर।

**अथर्ववेद** के चौथे काण्ड के चौथे सूक्त के पाँचवें मंत्र में कपित्थ औषधी की ओर सङ्केत है, जिस में वीर्यसेचन का अद्भुत सामर्थ्य है :

**अपां रसः प्रथमजोऽथ वनस्पतीनाम् ।**
**उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ।।**[3]

इस का अर्थ है कि हे कपित्थ मूल औषध, तू सृष्टि के कारणाभूत जलों का सबसे पहले उत्पन्न हुआ तत्त्व है और तू वनस्पतियों का सार है। तू सोम का सजातीय है और शूर, वीरता और वीर्यसेचन सामर्थ्य का जनक है।

मनुष्य का शरीर पाँच महाभूतों से निर्मित है। जब यह शरीर बाह्य अस्तित्व में आ जाता है, तो इसे आलम्बनार्थ अनेक पदार्थों की आवश्यकता होती है। प्राकृतिक पदार्थ आलम्बन में अत्यधिक सहायक हैं, क्योंकि उन के अनेक गुण तथा लाभ हैं। उन प्राकृतिक पदार्थों में ओषधियों तथा वनस्पतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रकृत प्रसङ्ग में हम सोदाहरण यह स्पष्ट करेंगे कि ये ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ मनुष्य के शरीर में उत्पन्न अनेक कृमियों तथा कीटाड़ुओं का समूल नाश करती हैं। **अथर्ववेद** में इन ओषधियों का सहज प्रयोग इस निमित्त था। इसके अनेक सङ्केत **अथर्ववेद** में हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। एतद्विषयक एक मंत्र इस प्रकार है :

**त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।**
**अजश्रृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ।।**[4]

इस का भाव यह है कि तेरे प्रयोग से हम अप्सराओं और गन्धर्वों को= तत्प्रभावजन्य रोगों को नष्ट करते हैं। हे अजश्रृङ्गी ओषधि ! राक्षसों को दूर कर

१. वही, ४.४.३
२. वही, ४.४.४
३. वही, ४.४.५
४. वही, ४.३७.२

और सब को अपनी गन्ध से नष्ट कर। इस मंत्र के सन्दर्भ से की गई विशेष व्याख्या से प्रकृत सन्दर्भ में विशद प्रकाश पड़ता है :

"**अजश्रृङ्गी**—'**अजश्रृङ्गी विषाणी स्यात्**' (अमरकोष २.४.११९) के अनुसार एक औषध विशेष का नाम है। इस का फल बकरे के सींग की तरह का होता है। इसलिए उस का ऐसा नाम रखा गया है। इस के गुणों के विषय में कहा गया है—**व्रणश्लेष्माक्षिशूलतनु। मेषश्रृङ्गीफलं तिक्तं कुष्ठमेहकफप्रणुत्। दीपनं स्रंसनं कासकृमिव्रणविषापहम्।** अर्थात् मेषसिंगी (Gymnema Sylvestre) श्वास, खाँसी व्रण कफ तथा नेत्रशूल को नष्ट करती है। इस का फल कड़वा, अग्नि-प्रदीपक, स्रंसन, कोढ़, प्रमेह, कृमि व्रण और विष नाशक है। **चातयामहे**—नाशयामः। चातयतिर्नाशे (निरुक्त ६.३०) **अज**-क्षिप्रं प्रच्यावय। अज गतिक्षेपणयोः। '**गन्धेन नाशय**' मंत्र के इस प्रयोग से यह बात स्पष्ट प्रदर्शित होती है कि इन ओषधियों की धूमगन्ध से रोगजनक कीटाणुओं का विनाश अपेक्षित है और यह गन्ध प्रसार होम द्वारा अनायास सम्पन्न हो जाता है।"[1]

इसी काण्ड के ३६वें सूक्त का तीसरा मंत्र इस प्रकार है :

**नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्।**
**गुल्गुलूः पीला नलद्यौ क्षगन्धि प्रमन्दनी।**
**तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥**[2]

इस मंत्र का अर्थ है कि अप्सराएँ जलों से भरी हुई निम्नगामी नदी की तरह या नदी की ओर चली जाएँ। हमारे पास एतन्नामक हवन द्रव्य हैं। हे अप्सराओ, इन द्रव्यों से डर कर दूर चली जाओ, तुम पहचान ली गई हो। श्रीकण्ठशास्त्री ने मंत्र की विस्तृत विशेष टिप्पणी की है, जिससे ज्ञात होता है कि ओषधि में शरीरस्थ कृमि-नाश करने की अभूतपूर्व शक्ति है :

"**अप्सरसः**—यद्यपि अमरकोषादि के '**विद्याधराप्सरसो यक्षरक्षो गन्धर्वकिन्नराः ...... भूतोऽपि देवयोनयः**। आदि प्रमाणानुसार गन्धर्वाप्सरसादि देवयोनि विशेष हैं, परन्तु इन शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के अदृश्य रोग के कीटाणूओं के लिए भी किया जाना सम्भावित है। यथा अप्सर शब्द का शाब्दिक अर्थ अप-जल में सर-फैलने वाले अथवा जलादि आर्द्र पदार्थों के संयोग से शरीरादि में सरण (विस्तार) करने वाले। इस अर्थ की पुष्टि इस मंत्र से भी हो जाती है जब कि मंत्र कहता है—अप्सराएँ नदी की ओर भाग जाएं।

गुग्गुलू, पीला नलदी, औक्षगन्धि, प्रमन्दनी ये पाँचों होम द्रव्य अपने गुणों के कारण जल वायु व वातावरण जन्य रोगों को शान्त करने वाले प्रमुख पदार्थ हैं।

---

१. श्रीकाण्ठशास्त्री (व्याख्याकार) **अथर्ववेद संहिता**, भाग १ (माधव पुस्तकालय, दिल्ली, सम्वत् २०३१), पृ० ४७७-४७८

२. **अथर्ववेद**, ४.३७.३

इन में गुग्गुल (Indian Delium) तो अपने अलौकिक गुणों के कारण विख्यात महोषधि है। आयुर्वेद शास्त्र में इसे त्रिदोषघ्न कहा गया है यथा—

**माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा।**
**तिक्तत्वात् कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा ।।**
(भा० प्र० नि० २.४०)

अर्थात् गूगल मधुर होने से वात को, कसैला होने से पित को, और कड़वा होने से कफ को जीतने वाला है, अतः यह त्रिदोषशामक है। इसके अतिरिक्त यह, भग्नस्थि को जोड़ने वाला वीर्यकारक, स्वरहितकारी, रसायन, अग्नि दीपक, बलवर्धक है। कफ, वात, व्रण अपचमेद प्रमेह, पथरी, क्लेद कुष्ठ, आमवात पिडका ग्रन्थि सूजन बवासीर, गंडमाला तथा क्रिमिरोग को नष्ट करने वाला है (भाव २.३८) इसलिए रोग जन्य उपद्रवों के शमन करने में इसे और इस जैसी अन्य औषधियों को लिया गया है। पिछले दिनों गुग्गुलु पर जो नवीन अनुसन्धान हुए हैं उन्हों ने गुग्गुलु को हृदय रोग (Heart trouble) की सर्वश्रेष्ठ औषध स्वीकार करते हुए इसके वेदोक्त प्रभाव का मुक्त कण्ठ से समर्थन किया है। देखो चिकित्सा अनुसन्धान रिपोर्ट हिन्दू विश्व० वाराणसी १९७३। **परेत**—परागच्छत **अभूतन**—भवेत। तप्तनप्तनथनाश्चेति सूत्रेण (७.१.४५) तस्य तनादेशः।"[1]

वैदिक काल में पशुओं का अत्यधिक महत्त्व था। पशु आर्यों का श्रेष्ठ धन माना जाता था। पशुओं में भी गाय तथा अश्व का विशेष महत्त्व था। गायों से दूध मिलता था, जिसे आर्य लोग चाव से पीते थे। उस से निर्मित दूध से घी बनता था, जिसे यज्ञादि में प्रयोग किया जाता था। गायों के आँतों तथा चर्म से उपयोगी वस्तुएँ बनती थीं। उनके सींगों तथा गोबर का उचित प्रयोग होता था। ऐसी स्थिति में गौ आर्यों के लिए नितान्त उपयोगी पशु थी। वे गौओं तथा अन्य पशुओं की सुरक्षा तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उन के रोगों के निवारणार्थ अनेक ओषधियों, वनस्पतियों, औषधों आदि का वर्णन **ऋग्वेद** में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। एक ओषधि के गाय के सम्बन्ध को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया हैं :

**शर्म गच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती।**
**करत् पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान् ।।**[2]

इस में सहदेवी नामक ओषधि के विषय में गया है कि वह सहदेवी नामक इष्ट फल को प्रदान करे। हमारी गोशाला को दूध से भर दे। हमारे भृत्यादि वर्ग को निरोग बना दे।

---

१. श्रीकण्ठशास्त्री (व्याख्या०), पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ४७८-४७९

२. **अथर्ववेद, ६.५९.२**

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछ ओषधियों की ओर सङ्केत किया गया है। ओषधियों तथा वनस्पतियों पर भी दैवत्वारोपण हुआ है। यह कथन यास्क के कथन से स्वयमेव स्पष्ट है। ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ अपने स्थूल-रूप से पृथिवी के विभिन्न भागों अथवा स्थानों से सम्बद्ध हैं, परन्तु सूक्ष्म रूप से (देव-रूप) उन का मानव-शरीर में निवास है। उपनिषद् में कहा भी गया है कि **'ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्।'**[1]

**अथर्ववेद** के एक मंत्र में औषधि को दिव्य गुण से संयुक्त दिखाया गया है :

**आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति।**
**दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति॥**[2]

इस मंत्र का अर्थ है कि सामने देखता है, पीछे देखता है, दूर तक देखता है, द्युलोक और अन्तरिक्ष को देखता है और भूमि को भी हे दिव्य गुण वाली अदंपुष्पे ओषधि! (तेरी मणि को धारण करने वाला) उस सब को देखता है। वस्तुतः **अथर्ववेद** के चौथे काण्ड के २० वें सूक्त की देवता स्वतः ओषधि ही है। **अथर्ववेद** में प्राकृतिक जगत् पर दैवत्वारोपण है। ओषधियों पर भी इस भावना का आरोपण है। ओषधियों को इन्द्र, रुद्र आदि देवों से प्रगाढ रूप से सम्बद्ध किया गया है। वेदों में पर्जन्य तथा पृथिवी को देवता माना गया है। वृष्टि से ओषधियाँ-वनस्पतियाँ पृथिवी से निकल पड़ती हैं तथा नाना प्रकार से मानवों का कल्याण करती हैं। **अथर्ववेद** की एक ऋचा में बताया गया है कि जब असुरों ने वनस्पतियों को छिपा दिया था, तब देवताओं ने उन का उद्धार किया।[3] ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ न केवल मनुष्यों की सहायता करती हैं, अपितु वे देवों की भी सहायता करती है। ओषधि से निर्मित मणि को धारण कर इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया, दैत्यों को पराजित किया, द्युलोक, पृथिवी-लोक और चारो दिशाओं को जीता—

**अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी।**
**अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत् प्रदिशश्चतस्रः॥**[4]

ऊपर पृथिवी-स्थानीय प्राकृतिक वस्तुओं का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है और प्रदर्शित किया गया है कि उनका मानवों से कैसा सम्बन्ध है। आगे अन्तरिक्ष-स्थानीय वस्तुओं का वर्णन मानवों के सामान्य एवं विशेष प्रसङ्गों से किया जा रहा है। अन्तरिक्ष-स्थानीय पदार्थों में पर्जन्य का विस्तृत वर्णन पहले किया जा चुका है। अन्यों का संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

---

१. ऐतरेय-उपनिषद्, १.२.४
२. अथर्ववेद, ४.२०.१
३. वही, ६.१०९.३
४. वही, ८.५.३

अन्तरिक्ष-स्थानीय प्राकृतिक वस्तुओं में मरुद्गण, अपां नपात्, मातरिश्वन्, आपः और वायु-वात प्रमुख हैं।

'मरुद्-गण' में समुदाय का अर्थ निहित है। इस गण में सात की भावना निहित हैं। **'सप्तगणोपेता मरुतः।'** और कहीं-कहीं ४९ की भावना भी पाई जाती है। मरुत् आँधी-पानी के देवता हैं, पर ये देवता उस प्राकृतिक दशा का चित्रण करते हैं, जब आँधी-पानी आती है। बिजली चमकती है। गरजन होती है। चमक पैदा होती है। जोर की आँधी आती है। वायु-मण्डल में साँय-साँय की ध्वनि उत्पन्न होती है और अन्त में कड़क के साथ पानी बरसने लगता है। नीचे की दो-एक ऋचओं से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है। तत्सम्बन्धी एक ऋचा निम्नलिखित है:

**यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थामि प्रेत मृणत सहध्वम्।**
**अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान्॥**[1]

—अर्थात् हे तेजस्वी एवं उग्र काम करने वाले मरुत् नामक देवताओं! आप इस प्रकार वाले युद्ध-रूप कर्म में मेरे सहायक बनो तथा शत्रुओं के सामने उन पर प्रहार करने के लिए जाओ। हिंसा करते हुए शत्रुओं को पराजित करो। इसके साथ ही ये वसु नामक गणदेवता जिनसे हम ने विजय की प्रार्थना की है, वे भी हमारे शत्रुओं को मारें। मरुतों एवं वसुओं के दूत अग्नि देवता जो सभी बातें जानते हैं, शत्रुओं के विरुद्ध जायें। यहाँ मरुतों का तेजस्वी एवं उग्र रूप वर्णित है। मरुत् प्रकृति के उस रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें विविधता है, अर्थात् वर्ण (रङ्ग) का सम्मिश्रण है, क्योंकि जोर की आँधी, पानी, बिजली की चमक आदि से रूप में रङ्ग-वैचित्र्य आ जाना स्वाभाविक है। इस की पुष्टि निम्नलिखित ऋचा से होती है:

**यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिर्यामञ्छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।**
**आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः॥**[2]

इसका अर्थ यह है कि हे मरुतो! तुम यज्ञों में संलग्न अपने मार्ग पर चितकबरी घोड़ियों पर बर्छी आदि से और आभूषणों से चमकते हुए व्याप्त होने वाले हो और सबके प्रिय हो। हे भरत के पुत्रो! कुशासनों पर बैठ कर, हे द्यु के नेताओ! सोम का पान करो। इस ऋचा में चितकबरी घोड़ियों पर बैठने आदि से मरुतों का रूप विविध-रङ्गी है।

मरुतों से मनुष्यों का हित साधित होता है। ये जल को बरसा कर मानव-जाति का कल्याण करते हैं। वे जल बरसाने के महान् स्रोत हैं। इस सम्बन्ध में **अथर्ववेद** की एक ऋचा अत्यन्त रोचक है:

---

१. वही, ३.१.२
२. वही, २०.६७.४

**आपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।**
**ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।**[1]

—अर्थात् जो मरुद्गण समुद्र से जलों को द्युलोक तक पहुँचाते हैं और द्युलोक से पृथिवी को अभिलक्ष्य करके पुनः छोड़ते हैं। जो शक्तिशाली मरुत् जलों के साथ विचरण करते हैं, वे हमें पाप से बचावें। मरुतों को सात का गण माना गया है, परन्तु ये ४९ मरुतों के रूप को भी द्योतित करते हैं। इन रूपों में गैसों तथा मानसून हवाओं का रूप मिश्रित है। मनुष्यों को जल की अत्यन्त आवश्यकता होती है, अत एव जल-वर्षण के कारण मरुतों का मानवों से सम्बन्ध है। जब जल बरसता है, तब ओषधियाँ एवं वनस्पतियाँ निकल आती हैं, जिनका मानव-जीवन में अत्यन्त महत्त्व है :

**उत्समक्षितं व्यचरन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु ।**
**पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।।**[2]

इस मंत्र से ज्ञात होता है कि मरुत् क्षीण न होने वाले स्रोत को (मेघ को) सदा आकाश में फैलाते हैं। ओषधियों में रस-क्षेपण करते हैं। सूर्य-रूप माता से उत्पन्न या माध्यमिका वाक् से उत्पन्न मरुतों को मैं अपने सम्मुख स्थापित करता हूँ। इससे ज्ञात होता है कि मरुत् मेघों को प्रेरित करने वाले हैं तथा ओषधियों में रस को प्रदान कर मानव का हित साधते हैं। मरुद्गण मानसून हवाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत एव **अथर्ववेद** की कुछ ऋचाओं में मरुतों से मेघों के प्रेरित किये जाने का वर्णन है।[3]

अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की भाँति मरुतों पर दैवत्वारोपण हुआ है। इनका सम्बन्ध सूर्य से भी है तथा माध्यमिका वाक् से भी। सूर्य के देवतात्व की ओर पहले सङ्केत किया जा चुका है। सूर्य से सम्बद्ध होने के कारण इनका देवतात्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। माध्यमिका वाक् से भी मरुतों का सम्बन्ध हैं। वाक् के परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी चार रूप हैं। वाणी के ये चारो भेद अन्ततोगत्वा परा से सम्बद्ध हैं। यह परा ब्रह्म में विलीन या ब्रह्म का रूप है,[4] अत एव माध्यमिका वाक् से सम्बद्ध होने के कारण मरुतों की आध्यात्मिकता स्वतः सिद्ध है। **अथर्ववेद** में स्वतः इन वाणियों की ओर सङ्केत निम्नलिखित ऋचा में किया गया है :

**शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।**
**तिस्रो वाचः निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ।।**[5]

---

१. **वही**, ४.२७.४
२. **वही**, ४.२७.२
३. **वही**, ४.१५.७-९
४. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, 'वाणी के चतुर्विध-रूप', **संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कतिपय झाँकियाँ** (गाजियाबाद, १९८५), पृ० ८-१६
५. **अथर्ववेद**, ७.४४.१

हिलेब्राण्ड ने मरुतों को मृतकों की आत्मा माना है ।[1] इसके अतिरिक्त वाक्[2] तथा व्रात्य से सम्बद्ध होने के कारण[3] मरुतों का आध्यात्मिक पक्ष उभर जाता है ।

अपां नपात् के आधिभौतिक स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है । **अथर्ववेद** में अग्नि को जलों का पुत्र बताया गया है :

**पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः ।**

अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ।।[4]

इन्द्र, पूषा और अदिति हमारी रक्षा करें । ४९ मरुद्गण रक्षा करें । हे जल पौत्र अर्थात् जल से उत्पन्न होकर बढ़ने वाली विद्युद्रूप मध्यम अग्नि और सात समुद्र हमारी रक्षा करें । विष्णु और द्युलोक हमारी रक्षा करें ।

**अथर्ववेद** की एक अन्य ऋचा में अपां नपात् की ओर इस प्रकार सङ्केत है :

**यो अनिध्मो दीदयदप्स्व १ न्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु ।**

**अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वार्यवान् ।।**[5]

इसका अर्थ है कि जो अग्नि इन्धन के जलों में दीप्त होता है । ब्राह्मण लोग यज्ञों में जिस की स्तुति करते हैं । हे जलों के पुत्र अग्नि ! हमें तुम मधुर जल प्रदान करो, जिनकी सहायता से बलशाली इन्द्र वृद्धि को प्राप्त करता है ।

यहाँ स्पष्टतः विद्युदग्नि की ओर सङ्केत किया गया है । अपां नपात् को जलों का पौत्र कहा गया है । यह कथन ठीक भी है, क्योंकि मेघ का निर्माण जल अर्थात् समुद्र के जल से होता है तथा उस मेघ से बिजली उत्पन्न होती है । भगवद्दत ने इस विद्युत् को अपां नपात् माना है । उनका कथन है कि "अपां नपात् का अर्थ है, आपों का पुत्र । यह अग्नि है । पर यह भूत अग्नि नहीं । भूताग्नि का जन्म पहले हो चुका था । यह उससे पृथक् आपों का पुत्र-रूप वैद्युत् अग्नि है ।" सायणाचार्य ने भी इसे विद्युदग्नि माना है ।[6] **ऋग्वेद** की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि यज्ञ में एक पुरोहित के रूप में स्थित अग्नि ही अपां नपात् है ।[7] यहाँ यज्ञाग्नि से अभिप्राय अभिव्यक्त होता है । अपां नपात् का प्रयोग कहीं-कहीं सूर्य[8] तथा सविता[9] के लिए भी हुआ है ।

---

१. उद्धृत ए० ए० मैक्डानेल, **वैदिक माइथालोजी**, पृ० ८१

२. वाक् की दार्शनिकता स्वतः वाक् सूक्तों से जानी जा सकती है, जिसका प्रभूत वर्णन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में हुआ है ।

३. **अथर्ववेद १५.१४.१** ४. **वही, ६.३.१**

५. **वही, १४.१.३७**

६. भगवद्दत, **वेद विद्या** निदर्शन, इतिहास प्रकाशन मण्डल, नई दिल्ली, १९५९, पृ० ५९

७. **ऋग्वेद, १.१४३.१**

८. मैक्डानेल, **वैदिक माइथालोजी** (दिल्ली, १९८१), पृ० ७०

९. **वही**, पृ० ७०

वस्तुतः जो अग्नि यज्ञ से सम्बद्ध है, उसे अपां नपात् नहीं माना जा सकता। अग्नि-सूक्तों से यज्ञाग्नि का रूप पृथक् ही ज्ञात होता है। स्वतः **ऋग्वेद** में कहा गया है कि अग्नि अपां नपात् के साथ वृत्र पर विजय प्राप्त करता है।[१] प्रकृति-परक व्याख्या के आधार पर यहाँ पर विद्युदग्नि प्रदर्शित है। इसका मनुष्य से निकट का सम्बन्ध है, क्योंकि इसके द्वारा मेघ से जल-वर्षण होता है, जिससे धरती पर अन्नादि की उत्पत्ति होती है। अपां नपात् से मनुष्यों का हित साधित होता है, अत एव उसकी आराधना पुनः पुनः की गई है।

मातरिश्वन् का वर्णन वेदों में अत्यन्त है। यह कहीं-कहीं अग्नि का वाचक है तथा कहीं-कहीं वायु का वाचक है। यह अन्तरिक्ष वायु का ही वाचक है, क्योंकि यास्काचार्य के कथन से उसकी पुष्टि होती है :

"**मातरिश्वा वायुः। मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति। मातर्याश्वनितीति वा।**"[२]

एतदनुसार मातरिश्वन् वह है, जो अन्तरिक्ष में श्वास लेती है अथवा अन्तरिक्ष में शीघ्र गमन करती है। **अथर्ववेद** में इस सन्दर्भ में एक ऋचा निम्नलिखित प्रकार की है :

**बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।**
**सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।**
**सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा॥**[३]

इस मंत्र का अर्थ है कि वर्धनशील चन्द्र से या द्युलोक से मन की पुष्टि का आह्वान करता हूँ। वायु से प्राण और अपान की, सूर्य से चक्षु की, अन्तरिक्ष से श्रवण-शक्ति की, पृथिवी ले शरीर की और मन से योग रखने वाली भगवती सरस्वती से हम वाणी की याचना करते हैं। यहाँ मातरिश्वा से अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु का बोध होता है : "**मातरिश्वना**—मातरि अन्तरिक्षे श्वसितीति मातरिश्वा वायुस्तेन।"[४] **ऋग्वेद** की कुछ ऋचाओं में अग्नि को मातरिश्वा कहा गया है।[५] वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मातरिश्वा सर्वप्रथम अग्नि का वाचक था, परन्तु उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में यह वायु का वाचक है। यह अन्तरिक्ष में गतिशील वायु है। अन्तरिक्ष में मातरिश्वा की उपयोगिता मेघ-सञ्चालन आदि में हो सकती है, जिस से मानव-हित में जल-वर्षण होता है। इस की उपयोगिता के विषय में कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :

"बाद के सूक्तों में कतिपय ऐसे अस्पष्ट मंत्र हैं, जिन से मातरिश्वा के चरित्र पर

---

१. **ऋग्वेद** ६.१३.३
२. **निरुक्त**, ७.७
३. **अथर्ववेद**, ५.१०.८
४. श्रीकण्ठशास्त्री (व्याख्या०) **अथर्ववेद संहिता**, भाग २, पृ० ५६
५. **ऋग्वेद**, १.९३.६; ३.२.१३ इत्यादि।

कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। इन मंत्रों में से दो में वे सोम-पावक और सोम-पाता के रूप कल्पित हुए प्रतीत होते हैं। और एक अन्य मंत्र में उन का उल्लेख उन पितरों के साथ हुआ है, जिनके साथ इन्द्र ने सोम-पान किया था। इन्द्र की तुलना इनके साथ एक बार कार्य-कुशल ऋभुओं के रूप में की गई है। यह तुलना सम्भवतः मातरिश्वा की अग्नि उत्पादन करने की कुशलता को दृष्टि में रखकर की गई हो। विवाह-सूक्त के एक मंत्र में भी कार्यकुशलता की यह धारणा वर्तमान प्रतीत होती है, जहाँ कि दो प्रेमियों में हार्दिक मिलन कराने के लिए अन्य देवों के साथ मातरिश्वा का आह्वान किया गया है। अन्त में एक अत्यन्त अस्पष्ट मंत्र में मातरिश्वा को असीम और सलिल कहा गया है। सलिल विशेषण का प्रयोग **अथर्ववेद** में वात के लिए अनेक बार हुआ है। ये दोनों विशेषण मातरिश्वा-विषयक परवर्ती धारणा के पूर्व-रूप को प्रस्तुत करते हैं।"[1]

वेदों में जल के लिए 'आपः' बहुवचनान्त शब्द का प्रयोग है। जीवन में जल की नितान्त आवश्यकता है। सृष्टि के लिए आदि में जल परमावश्यक तत्व थे। जब जल बरसा, तब सृष्टि आगे बढ़ी। प्रस्तुत प्रसङ्ग में जिन जलों का वर्णन किया जा रहा है, वे अन्तरिक्ष-स्थानीय हैं तथा वे मेघ-जनित हैं अथवा मेघों में निवास करने वाले हैं। पृथिवी पर भी जल पाये जाते हैं, जो वर्षा के जल के ही रूप हैं। वस्तुतः पृथिवी पर समुन्द्र हैं। उन में भी जल हैं, परन्तु अन्तरिक्ष-स्थानीय आपः से तात्पर्य उन के जलों से नहीं लिया जा सकता। यह स्पष्ट अन्तर मस्तिष्क में सदैव वर्तमान रहता है। प्रकृत प्रसङ्ग में एक ऋचा निम्नलिखित है :

**यददः संप्रयतीरहावनदता हते ।**
**तस्मादा नद्यो ३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥**[2]

इस का अर्थ है कि हे जलों ! चूँकि वृत्रासुर के मारे जाने पर इकट्ठे बहते हुए तुम ने वह नाद किया, इसलिए तुम 'नदी' नाम वाले हुए। हे नदियो ! वे वक्ष्यमाण तुम्हारे सब नाम अन्वर्थक हैं।

यहाँ स्पष्टतः आकाश के जल का वर्णन है। आपः से तात्पर्य इसी से है, परन्तु बाद में जहाँ पृथिवी-स्थनीय जल का वर्णन मिलता है, उस का भी प्रयोग बहुवचन में उपलब्ध होता है। इन्द्र जल का देवता है। कहीं-कहीं वरुण को भी जल से सम्बद्ध कर दिया गया है। जहाँ जल वरुण से सम्बद्ध है, वहाँ इन्द्र भी उपस्थित है। इन्द्र अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है, अत एव उससे सम्बद्ध होने के कारण 'आपः' अन्तरिक्ष-स्थानीय है। इस प्रसङ्ग में दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं। जल के लिए कई शब्दों के प्रयोग वेद में उपलब्ध होते हैं। **अथर्ववेद** के एक स्थान पर जल को आप् कहे जाने का कारण दिया गया है :

---

१. डॉ० सूर्यकान्त, **वैदिक देवशास्त्र** (दिल्ली, १९८२), पृ० १७३

२. **अथर्ववेद**, ३.१३.१

**यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीमं समवल्गत ।**
**तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥**[१]

—अर्थात् जब वरुण द्वारा भेजे जाने पर तुम शीघ्रता से मिलकर उछाल मारते चले, तब चलते हुए तुम्हें इन्द्र ने प्राप्त किया, इससे तुम आप् कहलाये ।

'आप्' के वार् कहे जाने का कारण निम्नलिखित है :

**अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हिकम् ।**
**इन्द्रः वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥**[२]

—अर्थात् इन्द्र की कामना के विरुद्ध बहने वाले दिव्य गुणोपेत तुम को, क्योंकि इन्द्र ने अपनी सामर्थ्य से रोक दिया था, इस से तुम्हारा नाम 'वार्' पड़ा ।

'आप्' को उदक भी कहा जाता है :

**एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।**
**उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥**[३]

—अर्थात् स्वेच्छा से बहती तुम पर इन्द्र खड़ा हो गया । महिमाशाली नदियों ने ऊपर को श्वास लिया । इसलिए जल को उदक कहा जाता है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जल का मानव के जीवन में बड़ा महत्त्व है । सृष्टि-प्रक्रिया में जल का महत्त्व तो है ही । इस के अतिरिक्त वर्तमान विज्ञान की सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक प्रक्रिया भी 'आपः' अर्थात् जलों से प्रारम्भ होती है । इन्हें ही नेबूला अथवा गैस का रूप माना जाता है । इस गैस में ही इलेक्ट्रान आदि बनते हैं ।[४] जलों में रोग-नाशक शक्ति होती है तथा वे विश्व के लिए औषध-तुल्य हैं ।[५] **अथर्ववेद** में अन्यत्र वर्णित है कि जल भूमि को तृप्त करते हैं तथा ओषधियों एवं वनस्पतियों को उत्पन्न करते हैं । इन से मनुष्य तथा जीवधारी प्राणी जीवित रहते हैं :

**समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।**
**वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥**[६]

इस मंत्र में वर्णित है कि बड़े बलशाली और महान् दानी मरुद्गण बादलों को भली-भाँति दिखलाएँ । जलों के रस स्वयं को ओषधियों से संयुक्त करें । वर्षा की बौछारें पृथिवी को महिमाशालिनी बनावें । सब प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, व्रीहि, यवादि अन्न भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्पन्न हों ।

---

१. **वही**, ३.१३.२
२. **वही**, ३.१३.३
३. **वही**, ३.१३.४
४. भगवद्दत, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० ५०
५. **अथर्ववेद**, ३.७.५
६. **वही**, ४.१५.२

हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जलों से अनेक लाभ हैं तथा उनसे मनुष्य प्रगाढ रूप से सम्बद्ध हैं।

हम अन्त में वात एवं वायु पर दृष्टिपात करना चाहते हैं। वायु मन्द पवन का नाम प्रतीत होता है। वात उससे तेज चलने वाला है, परन्तु झंझावात के रूप में नहीं। वात एवं वायु दोनों भिन्न-भिन्न हैं :

"The real wind gods of the Rigveda are Vayu and Vata who differ however quite distinctly in character and importance."[१]

वात तथा वायु में मौलिक भिन्नता यह है कि वायु अनुभूति का विषय है। यह मन्द-मन्द सदैव चलता रहता है, पर दिखाई नहीं देता। देवता का आरोपण प्रायः इसी पर होता है। वात कुछ तेज चलने वाला पवन है तथा उस के चलने से उस की अनुभूति होती है, क्योंकि वह सब को हिलाता अथवा जनाता हुआ चलता है। **अथर्ववेद** में वात के विषय में एक ऋचा निम्नलिखित है :

**यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।**
**एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥**[२]

मन्त्र में वर्णित है कि जैसे वात भूमि से धूल को और अन्तरिक्ष से बादल को उड़ा देता है, इसी प्रकार वेद मंत्रों से दूर भगाया गया सब कष्ट आदि मुझ से दूर भाग जायँ। इस प्रकार अन्य मंत्र इस विषय में द्रष्टव्य है।

वात तथा वायु दोनों का मानवों से सम्बन्ध है। **अथर्ववेद** में वायु को मुख्य-रूप से प्राणों का देवता माना गया है। एतद्विषयक एक ऋचा निम्नलिखित है :

**यत्र···वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे।**
**वायवे स्वाहा ॥**[३]

इस का अर्थ यह है कि ब्रह्म-ज्ञानी लोग दीक्षा एवं तप की सहायता से जिस पद को प्राप्त करते हैं, वायु मुझे उसे स्थान को प्राप्त कराये। वायु मुझ में प्राणों को स्थापित करे। यह आहुति वायु को अर्पित है।

द्युलोकीय प्राकृतिक पदार्थों में धौस्, सविता, उषा, सूर्य, पूषन् आदि मुख्य हैं। इन में से सूर्य का संक्षिप्त विवेचन पहले प्रस्तुत किया जा चुका है। आगे द्यौस् आदि का वर्णन किया जा रहा है।

---

१. ए० बी० कीथ, **द रिलीजन एण्ड फिलासोफी ऑफ द वेद एण्ड उपनिषद्स**, पृ० १३९
२. **अथर्ववेद**, १०.१.१३
३. **वही**, १९.४३.१

'द्यौ' का प्रयोग प्रायः स्थूल आकाश के लिए वेद में हुआ है। लगभग ५०० बार इस का प्रयोग स्थूल आकाश के लिए **ऋग्वेद** में हुआ है। इस का कोई अलग सम्पूर्ण सूक्त वेद में उपलब्ध नहीं होता है। इस का मानवीभाव द्युलोक के देवता के रूप में हुआ है तथा पृथिवी के साथ द्विवचन में 'द्यावापृथिवी' के रूप में प्रयुक्त है। यह पृथग्रूप से प्रयुक्त होकर पितृत्व की भावना को अभिव्यक्त करता है और इस दशा में इस का मानवीकरण मूर्तिमान् हो गया है। **ऋग्वेद** में कतिपय स्थानों पर अग्नि, पर्जन्य, अदित्यगण, सूर्य, अङ्गिरस और मरुद्गण को द्यौस् का पुत्र कहा गया है। उषा उस की पुत्री है। **ऋग्वेद** में उसे वृष भी कहा गया है :

**वृषा त्वा वृषणं वर्धतु द्यौर्वृषा वृषभ्यां वहसे हरिभ्याम् ॥**[1]

यह द्यौस् के प्राकृतिक रूप को जिस भाँति उपस्थित कर रहा है, उस से स्पष्ट है कि द्यौस् अपने प्राकृतिक रूप में आकाश है और वह क्षरण करने वाला है। सामान्यतः लोग कहते भी हैं कि आकाश क्षरित हो रहा है : **'आकाशः पिन्वते।'** आकाश स्वयं क्षरित होता नहीं है, क्योंकि वह वस्तुतः शून्य है तथा उस की स्थूलता मेघादि के द्वारा अभिव्यक्त होती है। पर्जन्य, मरुद्गण आदि क्षरित होते हैं तथा इन का क्षरण द्यौस् का क्षरण कहा गया हैं। द्यौस् इन को आधार प्रदान करता है और इसी कारण इन्हें द्यौस् का पुत्र कहा गया है। बरसने के कारण द्यौस् को वृषभ कहा गया है।[2] ऊपर बताया गया है कि द्यौस् देवता के रूप में द्युलोक का देवता है, परन्तु वह विस्तृत आकाश का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसी दशा में उस में पर्जन्य की तादात्म्यता है। यही कारण है कि **ऋग्वेद** में उसे गरजने वाला पशु बताया गया है,[3] जो राँभता है।[4] द्यौस् में कुछ कल्पना प्रकाश तथा बिजली की मिली हुई है और इसी कारण उस को मुस्कुराता हुआ चित्रित किया गया है।[5] नीचे **अथर्ववेद** के कुछ मंत्रों से द्यौस् के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। उन मंत्रों में से एक मंत्र इस प्रकार है :

**मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।**
**प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥**[6]

इस मंत्र का अर्थ है कि हे द्यु तथा भूमि! मैं तुम्हारी स्तुति करता हूँ। तुम दोनों सुन्दर भोज्य पदार्थों के दाता हो। एक चित्त वाले हो। तुम दोनों अपरि-

१. ऋ० ५.३६.५
२. वही, १.१६०.३; ५.५८.६
३. वही, १.१६०.३
४. वही, ५.५८.६
५. वही, २.४.६
६. अथर्ववेद, ४.२६.१

मित योजनाओं तक फैले हुए हो। तुम दोनों अष्ट वस्तुओं या लोक-लोकान्तरों एवं तत्रस्थ प्राणियों के आश्रय हो। वे तुम दोनों हमें पापों से मुक्त करो।

एक अन्य मंत्र में द्यौस् तथा पृथिवी को जल तथा अन्न को धारण करने वाला बताया गया है :

**ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्।**
**द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥**[1]

इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में द्यौस् तथा पृथिवी के रूप को और स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। पृथिवी का भौतिक तथा प्राकृतिक रूप सब मानवों के लिए प्रायः स्पष्ट है। द्यौस् के विषय में कुछ संदिग्धताएँ हैं। निम्नलिखित मंत्र से उस का रूप स्पष्ट हो रहा है :

**ये उस्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।**
**द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥**[2]

इस का अर्थ है कि द्यौस् तथा पृथिवी ! दोनों गौओं, मेघों या किरणों तथा वनस्पतियों को धारण तथा पुष्ट करते हो, तुम दोनों के अन्दर चतुर्दश भुवन आश्रय पाये हुए हैं। इस मंत्र में **'उस्रियाः'** शब्द आया हुआ है, जो मेघों तथा किरणों का बोधक है। इस से यह भाव व्यक्त होता है कि द्यौस् में मेघ तथा प्रकाश अथवा विद्युत् का रूप निहित है। मेघ जल का महान् स्रोत है, जिस का स्थान आकाश है। यह संसार को जल-दान से तृप्त करता है। इस ओर सङ्केत एक अन्य मंत्र में है :

**ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किंचन शक्नुवन्ति।**
**द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥**[3]

इस मंत्र में बताया गया है कि द्यौस् तथा पृथिवी सुस्वादु अन्न से और घी से या जल से संसार को तृप्त करते हैं। इन दोनों के अभाव से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकते।

यहाँ कुछ उदाहरणों द्वारा द्यौस् के प्राकृतिक रूप को स्पष्ट किया गया है। इन उदाहरणों में द्यौस् के रूप तथा कार्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। द्यौस् का कार्य भुवनों को धारण करना, जल बरसाना, ओषधियों तथा वनस्पतियों को उत्पन्न करना है। दोनों सुन्दर भोज्य पदार्थों के दाता हैं। इन दोनों द्यावा तथा पृथिवी का कार्य मनुष्यों अथवा सारे संसार के लिए है। एक मंत्र में तो स्पष्ट रूप से ही कह दिया गया है कि इन के अभाव से समस्त जन कुछ कर ही नहीं सकते।[4]

---

१. वही, ४.२६.४
२. वही, ४.२६.५
३. वही, ४.२६.६
४. वही, ४.२६.६

इस वर्णन से द्यौस् तथा मानवों का घनिष्ट सम्बन्ध प्रकट होता है।

सविता सवितृ (सूर्य) का वाचक है, परन्तु वेद में यह प्रकृति की एक दशा-विशेष को अभिव्यक्त करता है। जब रात्रि का अवसान होने लगता है, तब सर्व-प्रथम आकाश में उषा का आगमन होता है। उस के पश्चात् सूर्य आता है। सूर्य के प्रतिभासित होने के पूर्व ताम्र-वर्ण अथवा स्वर्णाभ होता है। सूर्य की इस दशा-विशेष पर सविता का आरोप पाया जाता है। यास्क ने उदय होने के पूर्व के सूर्य को सविता कहा है :

**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्काकीर्णरश्मिर्भवति ।**[1]

—अर्थात् सविता का समय वह है, जब द्युलोक ही **अपहततमस्का** अर्थात् अन्धकाररहित होता है तथा पृथिवी पर अन्धकार रहता है। इस समय आदित्य की किरणें द्युलोक में विकीर्ण रहती हैं।

**ऋग्वेद** की एक ऋचा में सविता तथा मनुष्यों के सम्बंध को सुस्पष्ट किया गया है :

**विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।**
**वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥**[2]

इस मंत्र में कहा गया है कि मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला या नित्य ही गमनशील यह सविता समस्त प्रज्ञानों को प्रतिमुक्त कर रहा है, अर्थात् तम से अपिहित और इसीलिए न दीखने वाले पदार्थ-स्वरूपों में ज्ञान को डाल रहा है। द्विपाद् तथा चतुष्पाद् सब के लिए अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म को करने के लिए आज्ञा दे रहा है। सब से वरण करने योग्य यह सविता-रूप आदित्य द्युलोक को प्रकाशित करता है। उषा के प्रयाण के अनन्तर विशेष-रूप से दीप्त हो रहा है।

वस्तुतः रात्रि के अवसान होने पर उषा आती है। उषा तथा मनुष्यों का घनिष्ठ सम्बंध **ऋग्वेद** में वर्णित है। उषा सोये हुए मनुष्यों को जगाती है। उन में नव-जीवन लाती है। मनुष्यों में बुद्धि का विकास करती है। ऋषियों को स्तुति-पाठ के लिए उद्बुद्ध करती है। इस से उषा तथा मनुष्यों का गहरा सम्बंध प्रकट होता है। ऐसी उषा के पश्चात् सविता आता है। ऊपर की सविता-सम्बंधी ऋचा में उस के कुछ कार्यों की ओर सङ्केत किया गया है। जैसे वह मनुष्यों की मेधा-शक्ति को बढ़ाने वाला है। समस्त मानव-प्रज्ञानों को प्रतिमुक्त कर रहा है। वह न दीखने वाले पदार्थ-स्वरूपों में ज्ञान को डाल रहा है। वह द्विपाद् (मनुष्यों) तथा चतुष्पाद् (पशुओं) को अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म को करने के लिए आज्ञा दे रहा है।

आगे **अथर्ववेद** के कुछ मंत्रों के माध्यम से सविता के ऊपर प्रकाश डाला

---

१. **निरुक्त, १२.२**

२. **ऋ० ५.८१.२**

जा रहा है। **अथर्ववेद** में कई सूक्त सविता को अर्पित हैं। १५वें सूक्त के कुछ मंत्र यहाँ उद्धृत हैं। निम्नलिखित मंत्र में सविता के मानवोपकारी रूप को प्रस्तुत किया गया है :

**अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।**
**अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्॥**[1]

इस मंत्र का अर्थ है कि उन दानादि-गुणयुक्त, सर्वरक्षक, द्यावा-पृथिवी को उत्पन्न करने वाले, क्रांतदर्शी, सत्य-प्रेरक और रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले जगत् प्रिय सूर्य को अभिलक्ष्य करके स्तुति द्वारा इस की अर्चना करता हूँ।

इस मंत्र में सविता के मानव-सम्बंधों पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। सविता मानव को अनेक दानों को देता है। वह सब का रक्षक है। वह द्यावा तथा पृथिवी को उत्पन्न करने वाला है। वह सत्य का उद्बोधक है। वह रमणीय पदार्थों को धारण करने वाला है। वह सब की बुद्धि तथा तेज को दीप्त करता है :

**ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि।**
**हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात् स्वः॥**[2]

सविता मानवों को वरणीय ऐश्वर्य तथा विपुल पशु-धन को देता है :

**सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।**
**अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पशवः॥**[3]

सविता न केवल मनुष्यों की सहायता करता है, अपितु वह उन के पितरों की भी सहायता करता है :

**दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।**
**पिबात् सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्माणि॥**[4]

—अर्थात् सविता पितरों को रमणीय पदार्थ, बल एवं दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है।

सविता संसार का रक्षक है। वह शोभन मति वाला है, अत एव उस से प्रार्थना की गई है कि पूजक को शोभन मति दे :

**तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।**
**यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥**[5]

**अथर्ववेद** के ७वें काण्ड के १७वें सूक्त में सविता की बृहस्पति तथा विश्वेदेवा

---

१. **अथर्ववेद, ७.१५.१**
२. **वही, ७.१५.२**
३. **वही, ७.१५.३**
४. **वही, ७.१५.४**
५. **वही, ७.१६.१**

के साथ स्तुति की गई है, जिस में सौभाग्य, तेज तथा शिक्षा की कामना है :

**बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभाग्याय ।**
**संशितं चित् संतरं संशिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ।।**[१]

उषा का प्राकृतिक चित्रण वेद में अत्यन्त मनोहारी है। यह प्रातः काल की अधिष्ठात्री देवी है । रात्रि के अवसान पर सविता के पूर्व इस का आगमन होता है। इस के आगमन से दिशाओं में आभा का विस्तार तथा अंधकार का क्षय होने लगता है । यह अपने आगमन से सूर्य के आगमन की सूचना देती है । **ऋग्वेद** में इस के लिए २० सूक्त अर्पित हैं । उषा की व्याख्या करते हुए यास्क ने लिखा है :

**उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः ।**[२]

उषा नाम इस लिए पड़ा, क्योंकि यह अंधेरे को विवासित करती है, अर्थात् निकालती है । 'उच्छी विकासे' से उषा बन गया । **रात्रेः अपरः कालः**—रात्रि का पश्चिम भाग उषा है । उषा के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली ऋग्वैदिक एक ऋचा निम्नलिखित है :

**इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।**
**यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ।।**[३]

इस का अर्थ है कि यह उषा नाम की ज्योति आ रही है, जो आदित्यादि ज्योतिष्मान् पदार्थों के बीच में सर्वोत्तम है । यह पूजनीय या दर्शनीय है । सुप्रसिद्ध है । सर्वत्र व्यापक है । वही उत्पन्न हुई है । जैसे उत्पन्न हुई रात सूर्य के उदय के लिए दूसरी जगह चली जाती है, इस प्रकार यह रात्रि उषः काल के लिए स्थान को रिक्त कर देती है—स्वयं हट जाती है ।

उषा का परिचय देते हुए सातवलेकर लिखते हैं : कि "उषा देवता के सूक्तों में साधारणतया प्राभातिक दृश्य का अत्यन्त मनोरम एवं काव्यमय वर्णन किया हुआ है ऐसा प्रथमतः मन में विचार उठ खड़ा होता है, और यह धारणा है भी ठीक, क्योंकि उषा देवता के लगभग २०० मंत्रों में करीब ८० मंत्र भाग स्पष्टतया प्रातः कालीन स्फूर्तिप्रद तथा प्रकाशमय दृश्य का बयान करते हुए पाये जाते हैं । इस उषा वेला के सजीव एवं आन्दोलनमय वर्णन के अतिरिक्त पचास से अधिक बार इन मंत्रों में आर्थिक और सांपत्तिक समृद्धि एवं वैभव के देने और पाने का उल्लेख पाया जाता है । इसलिए ऐसा निःसंदेह कहा जा सकता है कि इन मंत्रों में भौतिक सम्पन्नता और उषःकालीन प्राकृतिक सुरम्यता का ही अत्यधिक चित्रण एवं निर्देश किया है ।"[४]

---

१. **वही**, ७.१७.१

२. **निरुक्त**, २.६

३. ऋ० २.११३.१

४. पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, **उषा-देवता** (स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, १९५९), पृ० ३

इस उद्धरण में बताया गया है कि उषा स्फूर्ति को देने वाली है। प्रकाश को लाने वाली है। यह समृद्धि तथा वैभव को लाने वाली है। **ऋग्वेद** के अनेक मंत्रों में प्रदर्शित है कि उषा अंधेरे को हटाने वाली तथा प्रकाश को लाने वाली है।[१] उषा प्राणियों में जागृति लाती है।[२] जब उषा आती है, तब पूर्व दिशा अत्यंत मनोरम हो जाती है।[३] उषा अपने आगमन से आर्थिक प्रगति लाती है।[४]

"अच्छे कार्य करने वाले तथा दानशूर पुरुष को ही धन के बारे में निम्न मंत्रों में निर्देश मिलते हैं जिस से स्पष्ट होता है कि वैदिक कवि सम्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के अनुकूल थे और ऐसी समाज व्यवस्था चाहते थे जहाँ आर्थिक विषमता न हो तथा अधिकांश जनता निर्धन और कुछ इने-गिने व्यक्ति अत्यधिक सम्पन्न एवं धनशाली हैं ऐसी दशा न होने पाये।"[५]

आगे **अथर्ववैदिक** मंत्रों के प्रसङ्ग से उषा पर प्रकाश डाला गया है। **अथर्ववेद** के एक मंत्र में उषा को अन्न एवं प्रकाश से युक्त बताया गया है :

**सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।**
**यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥**[६]

इस मंत्र में वर्णित है कि उषा निश्चय रूप से कल्याणी मंत्रों से पूर्ण, अन्न एवं प्रकाश से युक्त अब मनुष्य के व्यवहार के लिए प्रकाशित हुई है, जब कि इस यज्ञादि कर्मों की चाहना करने वाले, होता-रूप अग्नि को यज्ञ-कार्य के लिग स्वर्गाभिलाषी जनों की इच्छानुसार उत्पन्न किया गया।

इस वेद के एक अन्य मंत्र में सूर्य तथा उषा के सम्बंध से उन दोनों का मनुष्यों से सम्बन्ध प्रदर्शित है :

**उप द्रव पयसा गोधुगोषमा धर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।**
**वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो विराजति॥**[७]

---

१. **ऋ०** १.४८.८, ११३.१६; ४.५२.६; ५.८०.५-६; ६.६५.२; ७.७७.१, ७८.२, ८०.२, ८१.१ आदि

२. **वही,** १.४८.५; १२४.१२; ६.६४.६

३. **वही,** १.४८.१३; ९२.१, ११३.१५, १२४.५

४. **वही,** १.३०.२२; ६.६४.४, ६५.६; ७.७५.२, ७६.७ आदि।

५. **वही,** १.११३.१८; १२४.१२; ५.८०.६; ६.६५.३; ७.७५.६, ७९.३, ८१.३ इत्यादि

६. **अथर्ववेद,** १८.१.२०

७. **वही,** ७.७७.६

—अर्थात् हे गौ को दुहने वाले, धर्मदुधा गाय के साथ शीघ्र आओ। लाल वर्ण की गाय के दूध को तप्त आज्य में डालो। वरणीय सूर्य ने दुःखरहित स्वर्ग को प्रकाशित कर दिया है। उषा के पीछे-पीछे चलता हुआ वह विशेष शोभायमान होता है।

यहाँ उषा के पीछे-पीछे चलने वाले सूर्य से प्रातः काल हो गया है। उस समय गायें दूही जाती हैं तथा यज्ञ किये जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों प्राकृतिक वस्तुओं का मनुष्यों से गहरा सम्बन्ध है। निम्नलिखित मंत्र में वर्णित है कि मनुष्य प्रातः काल उठता है तथा देवों आदि को वलि आदि देता है। इस प्रकार वह गृहस्थ-धर्म का पालन करता है तथा दीर्घ-जीवन को प्राप्त करता है:

**नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।**
**भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥**[1]

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उषा का प्राकृतिक रूप प्रस्तुत किया गया है। उस का मनुष्यों से किन-किन कारणों से सम्बन्ध है, इस की ओर अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

पूषा सूर्य का ही एक रूप है। यास्क इस के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:

**अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति।**[2]

—अर्थात् आदित्य का जो रूप रश्मियों से सब को पुष्ट करता है, अर्थात् भरपूर रश्मियों द्वारा सब जगह व्याप्त हो कर अति प्रकाशमान होता है, वह पूषा कहलाता है। पूषन् का मनुष्यों से सम्बन्ध उस के प्रति की गई स्तुतियों से प्रगट होता है। **ऋग्वेद** में शत्रुओं को तितर-बितर करने के लिए,[3] पथों को शिव बनाने के लिए,[4] विनाश से रक्षा तथा शुभ पथ दिखाने के लिए[5] पूषा से प्रार्थनाएँ हैं। वह गुप्त धन को प्रकट करता है।[6] पूषन् का पशुओं से घनिष्ट सम्बन्ध है। वह उन की विशेष-रूप से देख-भाल करता है।[7] निम्नलिखित **अथर्ववेद** के कुछ मंत्रों से पूषा तथा मनुष्यों का सम्बन्ध प्रकट होता है।

---

१. वही, १४.१.२४
२. निरुक्त, १२.२
३. ऋ०, ६.५३.४
४. वही, १.४.२७
५. वही, ६.५४.६; १०.५६.७
६. वही, ६.४८.१५
७. वही, ६.५४.६, ५४.१०, ५८.२; १०.२६.३

एक मंत्र इस प्रकार है :

**प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।**
**उभे अभि प्रितमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥**[1]

इस का अर्थ है कि पूषा देव मार्गों के उत्कृष्ट मार्ग में, द्युलोक के उत्कृष्ट मार्ग पर और पृथिवी के उत्कृष्ट मार्ग पर रक्षक के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। वह दोनों रुचिकर सहस्थानों अर्थात् द्यु तथा पृथिवी को पूर्णरूप से जानता हुआ समीप तथा दूर सर्वत्र घूमता है।

यहाँ पूषा को मानव के रक्षक तथा पथ-दर्शक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आगे इसी सूक्त के मंत्र में पूषा को भय-नाशक तथा मार्ग-दर्शक के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

**पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।**
**स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥**[2]

आज लौकिक साहित्य में कुबेर की धन-दाता के रूप में प्रतिष्ठा है। वेद में यही प्रतिष्टा पूषा को मिली हुई थी। वहाँ पूषा को धन अथवा समृद्धि का देव माना गया है। इस के अतिरिक्त वह पशु, धन, पुत्र, पौत्रादि को पुनः लाने वाला है, जो खो गये हैं या मानव से वियुक्त हैं :

**परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम् ।**
**पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥**[3]

पूषा का मानव से सम्बन्ध दिखाते हुए बताया गया है कि पुष्टि देने वाला पूषा देव दूर-दूर तक अपना कार्य-कुशल दायाँ-हाथ हमारे चारो ओर कायम रखे। हमारे खोये हुए पशु, धन, पुत्र, पौत्रादि को फिर हमारे पास हाँक लाये या वह हमारे पास आ जाय। विनष्ट द्रव्य से हम पुनः मेल प्राप्त करें (**नष्टेन सं गमेमहि**)।

एक दूसरे मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र और पूषा से अनुप्राणित धार्मिक राजा एवं उस की प्रजा शत्रुओं के मार्गों को सब ओर घेर लें। उन की सेना को अपनी दक्षता द्वारा ऐसे व्यामोह में फँसा दें कि वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय न कर सके :

**परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः ।**
**मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तरान् ॥**[4]

---

१. **अथर्ववेद**, ७.१०.१

२. **वही**, ७.१०.२

३. **वही**, ७.१०.४

४. **वही**, ६.६७.१

एक मंत्र में पूषा को शिशु को जन्म-देनी माँ अथवा स्त्री से सम्बद्ध दिखाया गया है :

> वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ।
> सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥[१]

पूषा का न केवल मानवों से अपितु प्रेतों से भी सम्बन्ध है । वह पूषा सर्वज्ञ है । भुवनों की रक्षा करने वाला है । पूषा मृत प्राणी को उस के पितरों से मिलाता है :

> पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
> स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥[२]

---

१. वही, १.११.१
२. वही, १८.२.५४

# भारतीय विवाह-पद्धतियाँ

विवाह प्रायः सभी धर्मों में संयम का साधन माना जाता है। इस के अतिरिक्त यह भिन्न-भिन्न समाजों के भिन्न-भिन्न दशाओं में प्रचलित सामाजिक रिवाजों और विधानों की ओर संकेत करता है। विवाह-पद्धति की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं, परन्तु अधिकांशतः यह स्वीकार किया जाता है कि सर्वप्रथम एक ही बार विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। तत्पश्चात् विवाह की अन्य पद्धतियाँ इस से प्रादुर्भूत हुईं, अत एव इस सन्दर्भ में यह उचित प्रतीत होता है कि मनुष्य-सभ्यता के सम्पूर्ण काल को मुख्यरूप से वैदिक तथा वैदिकेतर दो भागों में बाँट कर इस प्रथा पर प्रकाश डाला जाये।

## १. वैदिक पद्धतियाँ :

विवाह की विभिन्न पद्धतियों का एक सामान्य विचार **ऋग्वेद** की अपेक्षा **अथर्ववेद** और **गृह्यसूत्रों** में अधिक स्पष्ट हैं। **ऋग्वेद** के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक काल में स्त्री-पुरुष दोनों को विवाह करने की अधिक स्वतंत्रता थी तथा दोनों का मेल पूर्ण विकास के लिए होता था, परन्तु विवाह अनिवार्य नहीं था, क्योंकि अनेक स्त्रियों ने विवाह से तटस्थ रहकर अपने माता-पिता के गृह-निवास का वरण किया। अपाला, घोषा, विश्ववारा इत्यादि ने घोर तपस्यायें कीं और ऋषि-पद को प्राप्त हुईं। इसी प्रकार कुछ मनुष्यों ने अविवाहित रहना पसन्द किया। **ऋग्वेद** में बाल-विवाह तथा विवाहावस्था का वर्णन नहीं मिलता।

वैदिकेतर काल में विवाह की अनेक पद्धतियों का जन्म हुआ, जिनमें 'राक्षस', 'स्वयंवर'[1] और 'प्राजापत्य' का बीज ऋग्वैदिक काल में मिलता है, परन्तु इस प्रकार की विवाह-पद्धतियों का प्रमाण इतना अस्पष्ट है, जिस से यह कहना असम्भव प्रतीत होता है कि ये पद्धतियाँ ऋग्वैदिक काल में अधिकांश रूप में प्रचलन में थीं अथवा नहीं। इस प्रसङ्ग में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

वास्तविकता यह है कि ऋग्वैदिक समाज दुष्टों तथा पापाचारियों से पूर्णारूप से मुक्त नहीं था। व्यभिचार और सतीत्व-भ्रष्ट करने के अधर्म कार्य समाज में हुआ करते थे। उस समय भी तस्कर थे और लोगों को अपने पशुओं के चोरी जाने का भय सदा लगा रहता था, अत एव उनके लिये सुदृढ बाड़े बनाये जाते थे। राक्षसों को

---

१. ऋ० १०.२७.१२

**भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।**

कल्पना समाज में छाई हुई थी, जो लोगों को अनिष्ट और क्षति पहुँचाया करते थे। राक्षसों के समान मनुष्य भी समाज में थे, जो सज्जनों, सदात्माओं और सहृदयों को समय-समय पर दुःख दिया करते थे। इन कुकर्मों से राक्षस विवाह-पद्धति का जन्म हुआ।

राक्षस विवाह-पद्धति उस प्रथा का द्योतक है, जब कन्या को हठात् विवाह के उद्देश्य से उसके पिता के घर से अपहरण कर लिया जाता था। इस कार्य में पिता की सहमति की आशङ्का नहीं की जा सकती, परन्तु कन्या की सहमति की आशङ्का की जा सकती है। **ऋग्वेद** के **मण्डल** १ और ९ में राजा पुरुमित्र की पुत्री कामाद्या का वर्णन मिलता है। विमद उस राजकन्या से विवाह करना चाहता था, अत एव उसने अश्विनों से प्रार्थना की। अश्विन् उस की प्रार्थना से उस राजकन्या को उसके पिता के घर से उठा लाए।

इसी प्रकार **ऋग्वेद** में स्वयंवर का भी वर्णन मिलता है। स्वयंवर प्रथा का जन्म प्रार्थियों की अधिकतावश प्रतियोगिता के फलस्वरूप हुई। एक दैवी स्वयंवर का वर्णन **ऋग्वेद** (१, १६ और १७) में मिलता है। उस समय सूर्य की पुत्री सूर्या के अनेक प्रार्थी थे। फलतः निश्चय हुआ कि सूर्या को वही पत्नीरूप में प्राप्त करेगा, जो सूर्य तक की दौड़ लगाने वालों में सर्वप्रथम होगा। इस दौड़ में अश्विनों ने विजय प्राप्त कर सूर्या को जीता। यह दैवी स्वयंवर का एक रूप है। यह पृथ्वी-तल पर प्रतिपादित होने वाले स्वयंवरों की ओर भी संकेत करता है। तथ्य है कि अति प्राचीन काल में स्वयंवर के प्रमुख दो रूप थे। एक समाज के निम्नवर्ग में प्रचलित था और दूसरा राजवंश में। प्रथम पद्धति 'समन' के समय प्रतिपादित हुआ करती थी। 'समन' एक वार्षिक पर्व के रूप में शरत्काल की सम्पूर्ण रात्रि भर मनाया जाता था। यह एक सामाजिक जनसमूह का एकत्रीकरण होता था, जिस में स्त्री तथा पुरुष भाग लेते थे। कविगण वहाँ यश की आकांक्षा से आते थे, धनुर्धारी धनुर्विद्या में प्रवीणता के प्रदर्शनार्थ, घोड़े दौड़ के लिए तथा स्त्री और पुरुष अपने जीवन के साथी को वरण करने की इच्छा से एकत्रित होते थे। स्त्रियाँ सज-धज कर गाना गाती थीं, नृत्य करती थीं और अपने प्रेमियों को आकर्षित करती थीं, परन्तु शनैः-शनैः इस सामान्य प्रथा ने हिन्दू राजाओं के समय में एक विशेष रूप धारण कर लिया। उस समय यह प्रथा केवल राजाओं तक सीमित होकर रह गयी। ये दोनों पद्धतियाँ एक प्रकार से सर्व-सामान्य वैवाहिक पद्धतियाँ नहीं थीं, क्योंकि वे शास्त्रोक्त नहीं थीं।

**ऋग्वेद** के विवाह-सूक्त में इस पद्धति का सामाजिक प्रथा के रूप में विकसित होने का संकेत मिलता है, जिसमें विवाह का सम्पादन समाज के द्वारा प्रतिपादित नियमों तथा शास्त्रोक्त विधियों द्वारा होने लगा। इससे प्राजापत्य पद्धति का सृजन हुआ। इस पद्धति के अनुसार कन्या का दान यह समझकर किया जाने लगा कि जीवनपर्यन्त दम्पती-युगल अपने धार्मिक कार्य को सम्मिलित रूप से करेंगे। इस में

कन्या का विवाह पिता की सहमति से होने लगा। कन्या वर का हाथ पकड़ कर वैवाहिक अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा करने लगी। दोनों स्त्री-पुरुषों के योग से **ऋग्वेद** में पुत्रों की बहुलता की इच्छा व्यक्त की गई है। पुत्री के जन्म की आकांक्षा नहीं मिलती है।

**(क) आसुर-विवाह :**

आसुर-विवाह के अन्तर्गत धन के लोभ से कन्या अथवा पति को खरीदने का कार्य होता है। **ऋग्वेद** की एक ऋचा में इस ओर सङ्केत है। आज कल देखा जाता है कि जब कन्या के रूप, रङ्ग, शरीर आदि में किसी प्रकार का विकार आ जाता है, तब उसका विवाह धन के लोभ से किया जाता है, अर्थात् कन्या के माता-पिता अपनी पुत्री का विवाह वर-पक्ष को धन देकर करते हैं। **ऋग्वेद** के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि इसी प्रकार की प्रथा ऋग्वैदिक काल में भी थी। ऊपर के सङ्केतित मंत्र में वर्णित है कि हे इन्द्र और अग्नि। सुना है कि तुम दोनों कुछ दोष रखने वाले जँवाई तथा साले को अधिक दान देने वाले हो। इस सङ्केत से यह अनुमान लगाया जाता है कि उस समय दोष-ग्रस्त, विकार-ग्रस्त अथवा रूप-रङ्ग में विकार आ जाने के कारण युवक युवती-पक्ष वाले को प्रभूत धन देकर अपना विवाह करता था। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि इस प्रकार की विधि ऋग्वैदिक काल में अधिक सीमा अथवा कुछ सीमा तक अवश्य प्रचलित थी, अन्यथा इस प्रकार का उदाहरण ऊपर के मंत्र में नहीं दिया जाता। स्वतः यास्क ने **निरुक्त** ६.९ में इसी प्रथा की ओर सङ्केत किया है। पुनः यास्क ने (३.४) में स्त्रियों के खरीदे जाने का उल्लेख किया है, अत एव उन्हें अपने माता-पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं माना गया है। **निरुक्त के** ३.४ में ही पुरुषों के बेचे जाने का सङ्केत है। **मैत्रायणी-संहिता**[2] में भी स्त्रियों के खरीदे जाने का वर्णन उपलब्ध होता है।

आज हमारे देश में दहेज की प्रथा है। तदनुसार युवती के घर वाले द्रव्य तथा अन्य वस्तुएँ वर-पक्ष को देते हैं, परन्तु इस में युवती को बेचने की भावना निहित नहीं है। वैदिक काल में इस का विकृत रूप प्रचलित था। आज भी भारत में किसी अवस्था-विशेष में द्रव्य लेकर माता-पिता अपनी कन्या का विक्रय कर देते हैं। ऐसी अवस्था में उन माता-पिता का अपनी कन्या पर अधिकार अथवा सम्बन्ध नहीं रहता है। पुरुषों के बेचे जाने का सन्दर्भ आज भारत में उपलब्ध नहीं होता है। कभी-कभी देखने में आता है कि वर किसी की कन्या से विवाह करता है तथा किसी परिस्थिति-वश वह अपने माता-पिता से अलग कन्या के साथ ही रहने लगता है। इस दशा में कटुता अथवा वैमनस्यता की भावना छिपी हुई है। ऊपर चर्चित वैदिक प्रसङ्गों में इस का अभाव होता है।

---

१. ऋ०, १.१०९.२

२. **मैत्रायणी-संहिता**, १.१०.११

**(ख) गान्धर्व विवाह :**

गान्धर्व विवाह उस विवाह को कहते हैं, जब युवक एवं युवती प्रेम का उदय होने पर अपने माता-पिता की आज्ञा के विना किसी की परवाह न कर संयुक्त हो जाते हैं। यह विवाह कभी-कभी सफल रहता है तथा कभी-कभी भ्रष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार की प्रथा समाज में सामान्यतः प्रचलित नहीं है और न उसे बहुत आदर के साथ देखा जाता है। इस प्रकार की प्रथा वैदिक काल में भी प्रचलित थी, क्योंकि यत्र-तत्र इसके सङ्केत स्वतः वेदों में उपलब्ध होते हैं। एतत्सम्बन्धी एक ऋग्वैदिक ऋचा निम्नलिखित है :

**अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम् ।**
**अगन्नाजि यथा हितम् ॥**[1]

स्त्री जैसे पुरुष की स्तुति करती है, वैसे ही हे सोम ! तुम अपने हित के लिए लक्ष्य पर पहुँचते हो। यहाँ मंत्र में स्पष्ट रूप से जार का प्रयोग है। जार यहाँ उस पुरुष के लिए प्रयुक्त है, जो पराई स्त्री में आसक्त है तथा कामार्थ उन का संयोग होता रहता है। ९वें मण्डल की एक अन्य ऋचा इस सन्दर्भ में इस प्रकार है :

**अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत ।**
**मृज्यसे सोम सातये ॥**[2]

इस का अर्थ है कि स्त्री जैसे अपने प्रिय पुरुष को बुलाती है, वैसे ही हे सोम ! हमारी दशों उङ्गलियाँ धन प्राप्त कराने के उद्देश्य से तुम्हें इन्द्र के लिए शोधती हैं। यहाँ भी पुरुष को जार कहा गया है। ऊपर जार के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। 'जार' एवं 'जारिणी' आचार-भ्रष्ट स्त्री तथा पुरुष के लिए प्रयुक्त हैं। शब्द-कोशों में उपपतिः, परदारलम्पटः आदि को जार कहा गया है। कुलटा, पुंश्चली स्त्री को जारिणी कहा गया है। वस्तुतः 'जार' तथा जारिणी उन के लिए प्रयुक्त हैं, जो कामार्थ सङ्केतित स्थान पर जाएँ। इन सन्दर्भों में प्रेम का वर्णन किया गया है। पूर्ण मिलन का स्पष्ट वर्णन नहीं है। शब्दों के अर्थों में भी कुछ शिथिलता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में स्त्री तथा पुरुष कामार्थ सङ्केतित स्थान पर मिलते थे। ऐसे सन्दर्भों से यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि कुछ स्त्रियाँ अपने पतियों से छिप कर अन्य पुरुषों से मिलती थीं तथा पुरुष भी अपनी स्त्रियों से दृष्टि बचा कर पराई स्त्रियों से मिलते थे। उन्हीं सन्दर्भों की परम्परा में यह भी सम्भव था कि कन्या अपने माता-पिता की आज्ञा के विना अन्य युवक से मिलती थी और उन का विवाह हो जाता था। ऊपर जार का अर्थ दोनों अभिप्रायों

---

१. ऋ० ९.३२.५
२. वही, ९.५६.३

में लेना चाहिए। आगे कुछ अथर्ववैदिक उदाहरण प्रस्तुत हैं। एतत्सम्बन्धी एक मंत्र निम्नलिखित है :

**यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन।**
**देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥**[1]

इस मंत्र का अर्थ है कि जिससे वह कामार्त पुरुष तो मुझे स्मरण करे, किन्तु मैं उसे कभी भी स्मरण न करूँ। हे देवताओ! कामदेव को भेजो, जिससे वह निरन्तर मेरा ही चिन्तन करे।

इस मंत्र में कई विचारों की अन्विति है। इस मंत्र में निहित विचार की परिणिति गान्धर्व विवाह में भी हो सकती हैं। इस मंत्र की अपेक्षा एक अन्य मंत्र में स्पष्ट रूप से गान्धर्व विवाह भी ओर सङ्केत है :

**एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।**
**अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥**[2]

इस का अर्थ है कि पति को प्राप्त करने की कामना से यह नारी आई है और पत्नी प्राप्त करने की इच्छा से मैं उपस्थित हुआ हूँ। जैसे घोड़ा घोड़ी को देख कर आनन्द का प्रदर्शन करता हुआ हिनहिनाता है, इसी प्रकार मैं भी अपने सौभाग्य (पत्नी) के साथ आ मिलता हूँ। यहाँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से गान्धर्व-विवाह की ओर सङ्केत है, जिस में कहा गया है कि स्त्री एवं पुरुष विवाह तथा काम के पूरणार्थ आपस में स्वेच्छानुसार मिल जाते थे। **अथर्ववेद** के एक दूसरे मंत्र में प्रेमी एवं प्रेमिका को आलिङ्गन करते हुए प्रदर्शित किया गया है। मंत्र इस प्रकार है :

**यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।**
**एवा परिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥**[3]

—अर्थात् हे प्रिये! जैसे लता वृक्ष से चारो ओर से लिपट जाती है, इसी प्रकार मुझे आलिङ्गन कर। जिस से तू मुझ को चाहने वाली हो और जिस से मुझ को छोड़ कर जाने वाली न होवे।

इस मंत्र से भी सुस्पष्ट है कि यहाँ एक युवती तथा युवक का स्वेच्छा से मिलन प्रदर्शित है। यह निश्चय रूप से पति तथा पत्नी का मिलन नहीं है। यहाँ पति तथा पत्नी होने से पूर्व की दशा का वर्णन है। साहित्य अथवा कवि-कर्म में स्त्री तथा पुरुष को लता तथा वृक्ष के रूप में चित्रित किया जाता है। यह वर्णन प्रतीकात्मक है। इस में एक बड़ा ही गूढ भाव छिपा है। यहाँ दो अर्थों की अभिव्यक्ति हो रही है। एक से यह भाव ध्वनित होता है कि जिस प्रकार लता समीपवर्ती वृक्ष के सहारे

---

१. **अथर्ववेद**, ६.१३०.३
२. **वही**, २.३०.५
३. **वही**, ६.८.१

ऊपर चढ़ती है, इसी प्रकार पति के आश्रय से पत्नी जीवित तथा प्रसन्न रहती है। दूसरा अर्थ पुरुष-पक्ष को स्पर्श कर रहा है। लता वृक्ष के सहारे ऊपर चढ़ती है तथा कभी-कभी जब बिजली आदि से वृक्ष की शाखाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, तब भी लताएँ अपने बाहुपाश से उन शाखाओं को जकड़े रखती हैं और तितर-बितर नहीं होने देती हैं। यहाँ विद्युत् आपत्ति की सूचक है, जिस से ध्वनित होता है कि जब पुरुष पर आपत्ति आती है, तब स्त्री ही उस का सहारा बनती है। उसे कभी भी छोड़ती नहीं है। डॉ० मुल्कराज आनन्द ने अपने लेख 'The wife' में इस पक्ष पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है। ऊपर प्रकृत सन्दर्भ में लता तथा वृक्ष का सन्दर्भ कुछ शिथिल अर्थ में है। अभी प्रेमी एवं प्रेमिका मिल रहे हैं। इस में पूर्वानुराग का वर्णन है। स्वेच्छा से मिल रहे हैं, अत एव गान्धर्व-विवाह का सङ्केत प्रकट हो रहा है। गान्धर्व-विवाह कभी-कभी टूट भी जाता है अथवा उस के टूटने की सम्भावना होती है। **अभिज्ञानशाकुन्तल** का शकुन्तला तथा दिलीप का विवाह इस कथन की पुष्टि करता है। **अथर्ववेद** का एक अन्य उदाहरण निम्नलिखित है :

**सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।**
**सं वाँ भगासो अग्मत स चित्तानि समु व्रता ॥**[1]

**(ग) अथर्ववेद के चौदहवें सूक्त का विवेचन :**

**अथर्ववेद** के चौदहवें सूक्त में विवाह का विस्तृत विवेचन है। एक मंत्र में सूर्या के विवाह का वर्णन करते हुए कहा गया है :

**चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।**
**द्यौर्भूमिः कोशः आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥**[2]

यहाँ दिखाया गया कि सूर्या पति के घर गई, तब संकल्प ही उस की तकिया था। उस की प्रेम-मयी दृष्टि ही शरीर पर रचाया जाने वाला महावर था। द्यु और भूमि उस के कोश के तुल्य थे। इस सूक्त के प्रकृत मंत्र में दिखाया गया है कि जब सूर्या अपने पति के घर गई, तो उसे जो उपकरण मिले, वे पृथिवी पर पाये जाने वाले उपकरण के समान थे। इस से प्रकट होता है कि उस वैदिक काल में भी विवाहार्थिनी कन्या को कुछ ऐसी वस्तुएँ दी जाती थीं, जो आज वधू को दी जाती हैं। सूर्या के प्रसङ्ग से दहेज, दासी, वैवाहिक वस्त्र आदि का सुन्दर सङ्केत **अथर्ववेद** में प्राप्त होता है :

**रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।**
**सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥**[3]

---

१. वही, २.३०.२
२. वही, १४.१.६
३. वही, १४.१.७

आज जब वधू अपने पति के घर जाती है, तब कभी-कभी बैल-गाड़ी अथवा रथ पर जाती है। वस्तुतः आज यातायात के साधनों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। ग्रामों में आज भी वधू डोली, रथ अथवा बैल-गाड़ी में बैठकर जाती है। ऐसी स्थिति वैदिक काल में भी थी। प्रकृत संदर्भ में एक रथ निम्नलिखित प्रकार का है :

**मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः ।**
**शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥**[1]

इस मंत्र में दिखाया गया है कि सूर्या का मन उस का रथ था, जिस की छत द्यु था। बैल श्वेत रङ्ग के थे। यहाँ रथ के आकार तथा स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है। इसी प्रकार रथ के बैल, पहिए तथा उसके सदृश मार्ग का वर्णन भी उपलब्ध होता है :

**ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् ।**
**श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥**[2]

आज विवाह का समय शुभ लग्न में निश्चित किया जाता है। पत्रानुसार तिथि आदि पर विचार किया जाता है। वैदिक काल में भी विवाह का समय निश्चित होता था। उस समय विवाह फाल्गुन मास में सम्पन्न होते थे :

**सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।**
**मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥**[3]

यहाँ उक्त समय की ओर सङ्केत सूर्या के माध्यम से किया गया है। सूर्या का विवाहान्तर पतिगृह की ओर जाने का समय आया, जिस को सविता ने स्वयं निश्चित किया। माघ मास में सूर्य-रश्मियाँ निष्प्राण होती हैं, इसलिए फाल्गुन मास में वैवाहिक कार्य अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं।

वधू के पति-गृह जाने पर उसे शिक्षा दी जाती है कि वह गृह-स्वामिनी बने। अपने पति-गृह में मधुर वाणी का सेवन करे, जिस से उस से सब लोग प्यार तथा स्नेह रखें। वधू को शिक्षा दी जाती है कि वह पतिव्रता हो तथा केवल अपने पति के ही शरीर का स्पर्श करे :

**इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।**
**एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥**[4]

उस समय वधू को आशीर्वाद दिया गया कि वह अपने पुत्र तथा दौहित्रों के साथ खेलते तथा आनन्द मनाते हुए पूर्णावस्था को प्राप्त करे :

---

१. वही, १४.१.१०
२. वही, १४.१.११
३. वही, १४.१.१३
४. वही, १४.१.२१

**इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।**
**क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥**[१]

एक मंत्र में पति को आदेश दिया गया है कि वह पत्नी को ऊनी वस्त्र-विशेष दे । विवाहोपलक्ष्य में ब्राह्मणों को विपुल धन बाँटे :

**परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।**
**कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥**[२]

इस के अगले मंत्र में इसी ओर सङ्केत है । मंत्र की विशेष-टिप्पणी में श्रीकण्ठशास्त्री ने रोचक तथा रहस्यात्मक बात बताई है :

"मंत्र में विवाह का गूढ़ तात्विक विवेचन किया गया है । पूर्वोक्त मंत्र में पत्नी को कृत्या से उपमित किया गया है । यहाँ उसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कृत्याभिचार में लाल, नीले वस्त्रों का प्रयोग होता है उसी प्रकार वधू भी लाल, नीले वस्त्र पहने होती है जिस से भ्रम होता है कि यह मानो कृत्या से मिली हुई है । विवाह हो जाने पर पितृकुल वाले तो निश्चिन्त हो जाने के कारण वृद्धि को प्राप्त होते हैं, पर पति बेचारा बंध जाता है । यदि पत्नी अनुकूल रहे तो उसकी मोहनी मार डालती है, प्रतिकूल रहे तो घर ही नष्ट हो जाता है ।"[३]

वधू का अश्मारोहरण विवाह-संस्कार का एक आवश्यक अङ्ग है । वैदिक काल में भी इस की प्रथा थी :

**स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे ।**
**तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ॥**[४]

इसका अर्थ है कि हे वधू ! देवी पृथिवी की गोद में तेरी सन्तान के लिए सुखदायक स्थिर शिला-खण्ड को रखता हूँ । तू उस पर चढ़ । प्रसन्न हो । तेजस्विनी हो । सविता तेरी आयु को दीर्घ करे ।

वस्तुतः आज वधू को शिलाखण्ड स्पर्श कराया जाता है, जिस के पीछे यह भावना निहित है कि यदि स्त्री का चरित्र भ्रष्ट हुआ, तो वह अहिल्या के समान पत्थर बन जायेगी । वैदिक काल में इस से मिलती जुलती या उपर्युक्त भावना निहित थी ।

विवाह का एक नया नाम पाणिग्रहण है । विवाह को पाणिग्रहण इसलिए कहा जाता है कि वर वधू का हाथ अपने दाहिने हाथ से ग्रहण करता है :

---

१. वही, १४.१.२२
२. वही, १४.१.२५
३. श्रीकण्ठशास्त्री, **अथर्ववेद संहिता**, भाग ३ (दिल्ली, संवत् २०२३), पृ० ५३५
४. **अथर्ववेद**, १४.१.४७

**येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।**
**तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥**[१]

इस का अर्थ है कि जिस उद्देश्य के लिए अग्नि ने इस पृथिवी के दाहिने हाथ को ग्रहण किया था, उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं तेरा हाथ थामता हूँ। मेरे साथ रहती हुई तू प्रजा और धन के लिए कभी कष्ट न उठा पावे।

वेद धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का मूल है। एक मंत्र में युवकों एवं युवतियों को उपदेश दिया गया है कि वे प्रजोत्पत्ति की कामना से गृहस्थ जीवन को सुखी बनायें, न कि रति की वासना मात्र से काम का सेवन करें :

**मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।**
**सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥**[२]

इस मंत्र का अर्थ है कि राहजनी करने वाले लुटेरे आदि, जो घात लगाये बैठे रहते हैं, इस नवविवाहिता दम्पती सूर्या की तरह अपने महत्व के साथ अनेक रूपों को धारण करती हुई प्रजा कामना से यहाँ पति के साथ एक हो।

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में **अथर्ववेद** के उन प्रसङ्गों को प्रस्तुत किया गया है, जिन में आधुनिक प्रणालियों का समावेश है। इन प्रस्थापनों द्वारा दहेज, वधू के वस्त्र, काम का तात्त्विक अर्थ, वधू के मार्ग, वधू के रथ, वधू के गृहस्थ-जीवन की शिक्षा, वधू का परिवार में व्यवहार आदि व्यावहारिक बातों की संक्षिप्त व्याख्या की गई है।

### (घ) वैदिक युग में बाल-विवाह पद्धति का अभाव :

भारत में विवाह के सन्दर्भ में आयु का महत्वपूर्ण स्थान है। आज भारत में विवाह के सन्दर्भ में आयु में भिन्नताएँ पाई जाती हैं। शारदा-ऐक्ट के अनुसार बाल-विवाह वर्जित है। शिक्षित वर्ग में आयु को महत्व दिया गया है। पूर्ण अवस्था प्राप्त करने पर शिक्षित युवक एवं युवतियाँ विवाह के पक्षपाती हैं। विधि द्वारा आयु निश्चित होने पर भी अशिक्षित वर्ग में आयु का महत्व नगण्य ही है। अल्पायु में ही विवाह की प्रथा अशिक्षित वर्ग में बहुलता से प्रचलित है। शनैः शनैः उन में जागृति आ रही है तथा वे भी अब अवस्था पर विचार करने लगे हैं। विस्तार में न जाकर हम यहाँ विचार करना चाहते हैं कि वैदिक काल में विवाह की क्या अवस्था होती थी। बाल-विवाह समाज में प्रचलित था अथवा नहीं, इस पर विचार करने से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि बाल-विवाह से मनुष्य अल्पायु होता है। वेदों में मनुष्य की औसत आयु शतवर्ष प्रकल्पित है। यदि बाल-विवाह की प्रथा थी, तो मनुष्य शतायु नहीं हो सकता। वेदों में युवकों एवं युवतियों के व्यस्क होने पर प्रेम के उदय होने का वर्णन है। इसके अतिरिक्त वेदों में ब्रह्मचर्य तथा शिक्षा प्राप्त कर लेने पर विवाह

---

१. वही, १४.१.४८
२. वही, १४.२.११

करने का निर्देश प्राप्त होता है। सर्वप्रथम उपनयन-संस्कार होता था। इस संस्कार के लिए ८ बर्ष की आयु मानी गई है। वेदाध्ययन का समय १२ वर्ष का होता था। इसके पश्चात् ही विवाह हो सकता था। इस प्रकार विवाह की आयु २० वर्ष से कम नहीं होती थी। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित ऋचा द्रष्टव्य है :

**युवा सुवासाः परिवीत आगात् सं उ श्रेयान् भवति जायमानः।**
**तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यायो मनसा देवयन्तः ॥[1]**

इसका अर्थ है कि तरुण तथा उत्तम वस्त्रों से लिपटा हुआ यह आ गया है। वह उत्पन्न होते हुए बहुत अच्छा दिखाई देता है। देवों के समान बनने की इच्छा करने वाले बुद्धिमान् तथा उत्तम अध्ययनशील ज्ञानी जन मन से उसे उन्नत करते हैं। वस्तुतः इस मंत्र में यूप का वर्णन है, जिसको यज्ञ स्थान में गाड़ा जा रहा है। इसको तरुण दिखाया गया है तथा यह बुद्धिमान् तथा अध्ययनशील ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा गाड़ा जा रहा है। इससे व्यक्त होता है कि अध्ययन करने वाला तरुण होता था तथा उसका ब्रह्मचर्य चलता रहता था।

कुछ लोग अर्भ तथा अर्भा के आधार पर ऋग्वैदिक काल में बाल-विवाह को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार अर्भ का अर्थ बालक तथा अर्भा का अर्थ बालिका है। एतत्सम्बंधी ऋग्वैदिक ऋचाएँ निम्नलिखित हैं :

**नासत्याभ्यां बर्हिरिव प्र वृञ्जे स्तोमाँ इयर्म्यभ्रियेव वातः।**
**यावर्भगाय विमदाय जायां सेनायुवा न्यूहतू रथेन ॥[2]**

इसका अर्थ है कि दोनों अश्वि देव सेना के साथ चलने वाले रथ पर से नव-युवक विमद के लिए पत्नी को पहुँचा आये, उन असत्य से रहित अश्वि देवों के लिए मैं स्रोतों को पवन मेघ-मण्डल में उपस्थित होकर जलों को जैसे प्रेरित करता है, या आगे फैला देता है, वैसे मैं प्रेरित करता हूँ तथा कुशासनों की तरह विस्तारित करता हूँ। प्रकृत प्रसङ्ग में मंत्र में कहा गया है कि दोनों अश्वि देव अपनी सेना के साथ शत्रु पर हमला करने वाले रथ में बिठा कर नवयुवक विमद की पत्नी को उस के घर पहुँचा आये।

कुछ लोग अर्भग का अर्थ बालक करते हैं तथा उन के मत से यहाँ यह दिखाया गया है कि विमद बालक ही था, जबकि उसका विवाह हो गया था, क्योंकि मंत्र में स्पष्टतः पत्नी का उल्लेख है। कुछ लोग इसका कुछ शिथिल अर्थ इस प्रसङ्ग में करते है कि यदि अर्भग का अर्थ बालक किया भी जाये, तो यहाँ अभिप्राय यह है कि विमद अन्य राजाओं की अपेक्षा छोटा था अथवा बालक था। वस्तुतः विमद अवस्था

१. ऋ० ३.८.४
२. वही, १.११६.१

से बालक नहीं था, क्योंकि उसका विवाह हो चुका था। इसी प्रकार एक अन्य मंत्र इस प्रकार है :

**अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते ।**
**मेनाभवो वृषणश्वस्य सुक्रतो विश्वेत् ता ते सवनेषु प्रवाच्या ।।**[१]

इस का अर्थ है कि इन्द्र ! तू ने महान्, स्तुति करने की इच्छा वाले और सोम-याज करने वाले कक्षीवान् राजा के लिए (अर्भा) कम आयु वाली वृच्या नाम की स्त्री दी। हे उत्तम कर्म करने वाले इन्द्र ! तू ने वृष्णश्व राजा की मेना स्त्री बनाई। तेरे वे सभी कर्म यज्ञों में कहने योग्य हैं। यहाँ मेना को राजा वृष्णश्व की पत्नी के रूप मे दिखाया गया है। यहाँ स्पष्ट नहीं है कि मेना पार्थिक स्त्री है अथवा द्युलोक की अप्सरा है। मेना जो एक अप्सरा के रूप में वर्णित है, वह एक युवती है, न कि बालिका है। इसी प्रसङ्गमें कक्षीवान् को, जो स्त्री मिली है, वह बालिका नहीं है, अपितु वह कम आयु वाली है।

वस्तुत: वैदिक युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी ; उस समय विवाह तभी होता था, जब युवावस्था पूर्ण रूप से आ जाती थी। पूर्ण अवस्था आने पर ही काम का सच्चा विकास होता है। यह काम केवल तुच्छ वासना का विषय नहीं होता, अपितु सच्चे जीवन-साथी के प्रति प्रेम होता है, जिस में सन्तान की कामना वंश-वृद्धि के लिए छिपी रहती है। यह इच्छा स्त्री-पुरुष दोनों में समान रूप से होती है। वैदिक लोग अपनी सन्तान की उन्नति तथा समृद्धि की सदैव कामना रखते थे। पिता अपने पुत्र की वधू की तलाश तभी करता था, जब वह जान जाता था कि उसका पुत्र विवाह के योग्य हो गया है। कन्यापक्ष वाले अपनी कन्या का दान तभी करते थे, जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कन्या विवाह के लायक है तथा सामाजिक नियमों का पालन कर चुकी है। नीचे एक ऋग्वैदिक मंत्र प्रस्तुत है, जिसमें युवतियों को युवक पुरुष प्राप्त होने का वर्णन है :

**तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः ।**
**स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु ।।**[२]

इस का अर्थ है जिस प्रकार अभिमान से रहित युवतियाँ तरुण को सजाती हैं, उसी प्रकार उस अपां नपात् देव को शुद्ध करने वाले जल चारो ओर बहते हैं। तेजस्वी रूपों वाला वह देव जलों में ईंधन से रहित होकर भी तेजस्वी होता है। वह प्रदीप्त तेजों से हमें धन प्रदान करे। इस मंत्र में दिखाया गया है कि अभिमान से रहित युवतियाँ तरुण पुरुष को सजा रही हैं। यहाँ सेवा करने वाली युवतियों को तरुण पुरुष को अलङ्कृत करते हुए प्रदर्शित किया गया है। यहाँ युवक एक है तथा युवतियाँ कई हैं। यहाँ दो बातों की ओर सङ्केत मिलता है। सर्वप्रथम इस से ज्ञात होता है

---

१. वही, १.५१.१३
२. वही, २.३५.४

कि किसी युवक को चाहने वाली अनेक स्त्रियाँ होती थीं। उन स्त्रियों को अभिमान रहित प्रदर्शित किया गया है। इस से युवतियों के प्रौढ़ होने तथा विचारशील होने का भाव प्रकट होता है, जिन का वाल्यावस्था में होना असम्भव है। इस से यह भी ध्वनित होता है कि उस ऋग्वैदिक काल में विवाह प्रौढावस्था में होता था। **ऋग्वेद** के अतिरिक्त **अथर्ववेद** के कुछ मंत्रों से युवावस्था में विवाह होने की प्रबल पुष्टि होती है। यहाँ एक मंत्र द्रष्टव्य है :

**नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो नि तिरामि ते।**
**देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु** ॥[1]

इस का अर्थ है कि हे सुभगे ! तेरे शिर से आरम्भ करके मानसिक व्यथाओं को तुझ में प्रविष्ट करता हूँ। पैर से आरम्भ करके अर्थात् शिर से पैर तक सम्पूर्ण अङ्गों में काम-वेदना का निक्षेप करता हूँ। हे देवो ! काम को प्रेरित करो, जिस से वह स्त्री मुझे स्मरण कर बेचैन हो जाये। इस मंत्र से युवावस्था में विवाह होने का पूर्ण प्रमाण मिलता है। इस मंत्र में सुभगा का भाव निहित है, परन्तु सुभगा का भाव यहाँ शिथिल अर्थ में है। आज सुभगा उस स्त्री को कहते हैं, जिसका पति है, परन्तु ऊपर सुभगा उस स्त्री को कहा गया जान पड़ता है, जो युवती है तथा पति पाने के लायक है। इसके अतिरिक्त मंत्र में उस स्त्री की ओर सङ्केत कर उसमें काम-प्रवेश की बात कही गई है, जो काम के लायक है और वास्तविक काम के लायक है। काम मन की उपज है, जो नितान्त स्वाभाविक है। वह उचित अवस्था को प्राप्त कर जागृत होता है, तो उसमें मानसिक व्यग्रता होती है, शारीरिक नहीं। बाल्यावस्था में अविकसित अवस्था के कारण किसी कार्य में अङ्गों की चञ्चलता अथवा व्यग्रता बहुलता से पाई जाती है। परिपक्वावस्था में प्रत्येक कार्य मानसिक-व्यापारों से परिच्छिन्न रहता है। प्रकृत मंत्र में इसी ओर सङ्केत है कि स्त्री के अङ्गों में मानसिक व्यथाओं को प्रविष्ट किया जा रहा है। मंत्र के अन्तिम भाग में कहा गया है कि हे देवो ! काम को प्रेरित करो, जिससे वह स्त्री मुझ को स्मरण कर बेचैन हो जाये। इससे भी पूर्ण अवस्था में काम के जागरण की प्रार्थना है। यहाँ देवों से प्रार्थना की गई है कि वे काम को प्रेरित करें। देवों से किसी बालिका में प्रेम को उत्पन्न करने की प्रार्थना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह नितान्त अनुचित हैं। दूसरी ओर बालिका दूसरे को स्मरण नहीं कर सकती, क्योंकि उसकी अवस्था अभी स्मर के योग्य नहीं है।

वस्तुतः वेदों में विवाह वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्य के पश्चात् होता था। वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री तथा पुरुष दोनों करते थे। स्त्रियाँ वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त मनोयोग से किया करती थीं। तदनन्तर वे विवाह

---

१. **अथर्ववेद** ६.१३१.१

करती थीं। कुछ विवाह नहीं भी करती थीं। विश्ववारा, घोषा, अपाला आदि इस के प्रमाण हैं।

**(ङ) वैदिक युग में विधवा-विवाह :**

मृत्यु प्राणी का अन्तिम धर्म है। इस से जीव अपने कर्मानुसार फल भोगता है। स्त्री एवं पुरुष का संयोग एवं वियोग दैव से प्रेरित है। आज सभ्य समाज में यह आदर तथा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है कि यदि पति की मृत्यु हो जाय और स्त्री पर उत्तरदायित्व अधिक हों, तो वह स्त्री अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए दूसरे से विवाह कर ले अथवा यदि स्त्री की अवस्था नितान्त 'नवीन हो', तो वह अपने जीवन को नरकमय बनाने की अपेक्षा दूसरे पुरुष से सुखमय जीवन के लिए विवाह कर ले। इस अवस्था में जो विवाह होता है, उसे विधवा-विवाह कहते हैं। हमारे देश में किसी समय सती-प्रथा थी, जो बाद में अवैध घोषित कर दी गई। पति की मृत्यु के पश्चात् शुद्ध चारित्रिक जीवन बिताना कठिन होता है तथा समाज के अनेक आक्षेपों का स्त्री को शिकार होना पड़ता है, अत एव आज विधवा-विवाह बुरा नहीं समझा जाता है। वैदिक काल में भी यही दशा थी। **अथर्ववेद** ९.५.२७ में इस ओर सङ्केत है। मंत्र इस प्रकार है :

**या पूर्वं पतिं हित्वाथान्यं विन्दतेऽपरम्।**
**पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥**

इस का अर्थ है कि जो स्त्री वाग्दत्ता आदि के रूप में एक पति को प्राप्त करके रिश्ता छूट जाने से या उस की मृत्यु हो जाने से दूसरे पति को प्राप्त करती है, वे दोनों यदि परमेश्वर के उद्देश्य से पञ्चौदन अन्न का दान करते हैं, तो कभी वियुक्त नहीं होते हैं। अगला मंत्र इस प्रकार है :

**समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।**
**योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥**[1]

इस का अर्थ यह है कि अन्य के साथ वाग्दत्ता हो रिश्ता छूट जाने के बाद उस स्त्री से विवाह करने वाला यदि अन्य पुरुष हो, तो वह पति जन्मादि रहित ईश्वर के निमित्त जो पञ्चौदन को दक्षिणा से प्रकाशमान कर दान करता है, तो पाप-मुक्त हो वह उस पत्नी के साथ ही पुण्यवान् लोक को प्राप्त करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक काल में विधवा अथवा पुनर्विवाह की प्रथा थी। उस समय इस भाँति से विवाह करने वाले का समाज में आदर होता था। विधवा-विवाह से मनुष्य पुण्य का भागी बनता था।

**(च) वैदिक युग में एक पत्नी-विवाह-प्रथा :**

आज सामान्यतः एक पत्नी-विवाह की प्रथा हिन्दू-जाति में पाई जाती है। यह

---

**१. वही, ९.५.२८**

सर्वोत्तम प्रथा है। वैदिक काल में इस प्रथा के प्रचलन के प्रमाण वेदों में उपलब्ध होते हैं। यहाँ एक ऋग्वैदिक ऋचा प्रस्तुत है :

**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।**
**भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥**[१]

इस का भाव यह है कि मैं तेरे हाथ को सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ, जिस से तू पति के साथ बुढ़ापे तक पहुँचने वाली हो ।

**अथर्ववेद** की एतत्सम्बन्धी एक मंत्र निम्नलिखित है :

**सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।**
**सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं रथिष्ठामप दुर्मतिं हतम् ॥**[२]

अर्थ है कि हे भार्ये ! वह तू प्रसन्न हुई कल्याणकारी मन से सब वीरों से युक्त चर्चा के योग्य धन प्राप्त कर। हे शोभासम्पन्न अश्विनी कुमारो ! हमें सुगम्य और सुन्दर पेय जलों वाला कूपादि प्राप्त हो। मार्ग में ठूंठ की तरह अड़ने वाले दुष्ट बुद्धि वाले को दूर हटाओ। यहाँ आजीवन सुख के साथ एक पत्नी के सम्पर्क में जीवन बिताने का वर्णन है ।

**(छ) वैदिक बहुविवाह-पद्धति :**

वेद में इस पद्धति का सामान्यतः प्रचलन नहीं था। कुछ सङ्केत मिलते हैं, जहाँ सौतों का सङ्केत प्राप्त होता है। एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है :

**अव त्मना भरते केतवेदा अव त्मना भरते फेनमुदन् ।**
**क्षीरेण स्नातः कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः ॥**[३]

इस का अर्थ है कि धन को जलाने वाला कुयव असुर स्वयं ही दूसरों के धन का अपहरण करता है तथा उदय होते हुए वह झागयुक्त जल का अपहरण करता है, तब कुयव की स्त्रियाँ उस पानी से स्नान करती हैं। वे दोनों स्त्रियाँ शिफा नदी के प्रवाह में डूब कर मर जायँ। यहाँ दो सौतों का वर्णन है। **ऋग्वेद** के एक अन्य मंत्र में दो धुरों को वहन करने वाले बैल के साथ दो पत्नियों के साथ जीवन व्यतीत करने वाले एक पुरुष का वर्णन है।[४] अन्य मंत्रों में भी इस प्रकार के सङ्केत मिलते हैं,[५] पर यह प्रथा समाज में अधिकतः प्रचलित नहीं थी। अधिकतर एक पत्नी-विवाह ही प्रचलित था।

---

१. ऋ० १०.८५.३६
२. **अथर्ववेद**, १४.२.६
३. **ऋग्वेद**, १.१०४.३
४. **वही**, १०.१०२.११
५. **वही**, १.६२.११ ; १८६.७; ७.१८.२; १०.४३.१, १४५, १५९

## २. वैदिकेतर पद्धतियाँ :

वैदिक काल के अनन्तर **धर्मसूत्रों**, **स्मृतियों** और **पुराणों** ने मनुष्य के गार्हस्थ्य जीवन को बुरी तरह जकड़ लिया। **गृहसूत्रों** का निर्माण ८००-४०० ई० पू० में हुआ और उनका वर्ण्य-विषय गृहाग्नि से गृह-कार्य का सम्पादन है। गृह्यसूत्रों में दो से लेकर आठ विवाह-पद्धतियों का वर्णन है। वे आठ पद्धतियाँ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच हैं। उस काल के समाज में ब्राह्म तथा आसुर का विभाजन सर्वप्रियता के आधार पर हुआ था, परन्तु अन्य प्रथाओं का प्रचलन **भी** समाज में रहा। मनु के समय में जब समाज विधानों तथा क्रियाओं से पूर्णरूप से आबद्ध हो गया, उस समय भी ये ही आठ विवाह की पद्धतियाँ समाज में प्रचलित रहीं। मनुकालीन समाज के कठिन विधानों के कारण स्वयंवर की प्रथा समाप्तप्राय हो गई। केवल आठ पद्धतियाँ समाज में प्रचलित रहीं।

इन आठ पद्धतियों में राक्षस तथा प्राजापत्य का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। शेष छः का स्वरूप **मनुस्मृति** (३.२७-३४) के अनुसार इस प्रकार है :

जब पिता किसी वेद-वेत्ता और गुणज्ञ व्यक्ति को बुलाकर अपनी पुत्री सादर उसे समर्पित करता है, तो उस पद्धति को ब्राह्म करते हैं। जब पिता अपनी कन्या को आभूषणों से मण्डित कर कर उस पुरोहित को दे देता है, जो यज्ञ का सम्पादन करता है, तब उस पद्धति को दैव पद्धति कहते हैं। जब पुण्य विधान के सम्पादनार्थ पिता वर से नियमानुसार गौ तथा बैल अथवा युग्म को लेकर अपनी कन्या का दान करता है, तब आर्ष पद्धति होती है। जब वर अपनी इच्छानुसार अपनी शक्ति के अनुकूल वधू और उसके सम्बन्धियों को धन देकर वधू की प्राप्ति करता है, तब आसुर पद्धति होती है। प्रेमी तथा प्रेयसी का अपनी इच्छानुसार मेल होने पर गान्धर्व होता है। जब मनुष्य चोरी से किसी कन्या का सतीत्व हरण करता है, जिस समय वह उन्मत्त अथवा मानसिक अव्यवस्था के कारण सोई हुई होती है, तब उसे पैशाच पद्धति कहते हैं। यह सबसे अधिक घृणास्पद और पापपूर्ण पद्धति है।

कुछ **गृह्यसूत्रों** तथा **धर्मशास्त्रों** ने आठ पद्धतियों में शौल्क, मानुष और क्षात्र की गणना की है, परन्तु शौल्क तथा मानुष आसुर के ही रूप हैं। क्षात्र राक्षस का प्रतिनिधित्व करता है।

**स्कंदपुराण** के समय तक विवाह की दश पद्धतियों ने जन्म ले लिया था। पूर्व आठ पद्धतियों के अतिरिक्त प्रातिभ और धातन दो अन्य प्रथायें प्रचलन में आ गई थीं। शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर इन दोनों प्रथाओं का ज्ञान बड़ा कठिन प्रतीत होता है। डी० सी० सरकार का मत है कि ये दशों पद्धतियाँ सम्भवतः आज भी गुजरात क्षेत्र के निम्न वर्गों में प्रचलित हैं। सरकार का संदेह है कि प्रातिभ प्रतिभू ही है, जिस का अर्थ प्राक्सी द्वारा विवाह होता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य उच्च वर्गों में प्रचलित थे। ब्राह्मणों में इन का विशेष

सम्मान था। गान्धर्व, आसुर, राक्षस, पैशाच, प्रातिभ और घातन सामान्य जन में प्रचलित बताये जाते हैं, परन्तु मनु का विचार इस से भिन्न है। उन का कथन है कि प्रारम्भिक आठ पद्धतियाँ चारो वर्गों में प्रचलित थीं। आठों में से क्रमानुसार छः ब्राह्मणों के लिए विहित थीं, अन्तिम चार क्षत्रियों के लिए और राक्षस को छोड़कर वे ही वैश्य और शूद्रों के लिए विहित थीं।

भारतीय समाज में इन पद्धतियों में से कुछ आज भी प्रचलित हैं और कुछ लुप्तप्राय हो गई हैं। दैव और आर्ष का विनाश पाया जाता है। देवदासी प्रथा जो हमारे देश के बड़े-बड़े देव-मन्दिरों में कुछ समय पूर्व तक पाई जाती थी, उस का बीज दैव पद्धति के अन्तर्गत पाया जाता है। आज के समाज में सबसे अधिक आदृत प्रथाएँ ब्राह्म और प्राजापत्य हैं, जिन का प्रचलन विशेष-रूप से ब्राह्मणों और क्षत्रियों में पाया जाता है। इन में भी ब्राह्म का ब्राह्मणों में विशेष सम्मान है। ये दोनों प्रथाएँ **वेदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों** तथा **पुराणों** के अनुसार पारित होती हैं। आज के समाज में धन के लोभ से कन्या का विक्रय कभी-कभी कर दिया जाता है अथवा इस के प्रतिकूल कन्या के संरक्षक को अधिक मात्रा में दहेज देकर कन्या से, जो मुक्ति की प्राप्ति होती है, वह आसुर पद्धति का ही एक रूप है। आज कुछ शिक्षित युवक तथा युवतियाँ अपने इच्छानुकूल विवाह कर लेते हैं, अत एव इस पद्धति से गान्धर्व और स्वयंवर का जन्म होता है। तात्पर्य है कि जब नियमानुसार विवाह के पूर्व युवक और युवतियाँ पारस्परिक राय से मिल जाते हैं, तब गान्धर्व होता है। आज का स्वयंवर प्राचीन काल के स्वयंवर से भिन्न है। सर्वप्रथम युवक और युवतियाँ एक दूसरे को चुन लेते हैं, तदनन्तर इस निर्णय की सूचना अपने माता-पिता को देते हैं। इन दोनों प्रथाओं में माता-पिता की राय आवश्यक नहीं है और जाति अवरोधक नहीं बनती। सामान्य-रूप से इन प्रथाओं को आज 'लभ मैरेज' के नाम से पुकारते हैं। आज के बालापहरण तथा बलात्कार को क्रमशः राक्षस और पैशाच में समाविष्ट किया जा सकता है। कभी-कभी निम्न-वर्ग के लोगों में देखा जाता है कि कन्या का पिता अथवा संरक्षक योग्य वर का अन्वेषण करता है और जब निश्चित समय पर बारात आती है, उस समय वर अन्य होता है। उस अवसर पर बड़ी-कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसे अवसरों पर या तो विवाह स्थगित हो जाता है अथवा वर की ओर से वधू-पक्ष पर इतना भयङ्कर दबाव पड़ता है कि कन्या-पक्ष को कन्या का विवाह करना ही पड़ता है। वधू-पक्ष को विवशतावश ऐसा करने के लिए वाध्य होना पड़ता है। डी० सी० सरकार ने जिसे 'प्राक्सी मैरेज' कहा है, वह इस प्रथा में दृष्टिगोचर होती है। कभी-कभी शूद्रों में विवाह शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार नहीं होता।

# विष्णुधर्मोत्तर तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा

## १. विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ब्रह्मा :

**विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के अधिष्ठाता देव विष्णु हैं। उनकी तीन मूर्तियों के नाम ब्रह्मी, वैष्णवी तथा रौद्री हैं। विष्णु के विस्तार में न जा कर हम यहाँ ब्रह्मा के केवल उस रूप पर विचार करेंगे, जो **विष्णुधर्मोत्तर-पुराण** में मूर्ति-निर्माण-विद्या से सम्बद्ध है। प्रतिमा-निर्माण-विद्या से सम्बद्ध एक स्वतंत्र अध्याय **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में उपलब्ध होता है, जिसका नाम प्रतिमालक्षण है। यह अध्याय चित्रसूत्र से प्रारम्भ होता है तथा यह अध्याय ४४ से अध्याय ८५ तक प्रस्तुत है। इस प्रकार इस पुराण के प्रतिमालक्षण तथा चित्रसूत्र अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रतिमालक्षण चित्र-लेखन का सार है। प्रतिमालक्षण प्रतिमा+लक्षण से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ मूर्ति का तथ्यतः वर्णन है। इस प्रकार प्रतिमालक्षण मूर्ति-निर्माण-कला से सम्बद्ध हैं। प्रतिमालक्षण के अनुसार मूर्ति का निर्माण पत्थर, लकड़ी अथवा मिट्टी के द्वारा होता है। प्रतिमालक्षण की यह परिभाषा स्वतः **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में वर्णित है।[1] इससे स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि कैसे विभिन्न देवों की मूर्तियों का निर्माण पत्थर, धातु, लकड़ी, मिट्टी आदि को रूखानी से काटकर बनाया जाता है। वैदिक कालीन लोगों के मन में इस प्रकार की कला की भावना नहीं थी, क्योंकि वे प्रकृतिवादी थे, अत एव प्रकृति उनके चारो ओर थी। पौराणिक काल में मानव के मन में विभिन्न देवों के रूपों की स्थूल कल्पना उत्पन्न हुई। उन्होंने देवों को मनुष्याकार में प्रकल्पित किया। कुछ देवों की मूर्तियाँ मनुष्य के आकार से भिन्न भी थीं। वे रूप प्रतीकात्मक रूप में थे, जिनके अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक तात्पर्य थे।[2] विभिन्न पुराणों के प्रतिमालक्षण के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह विद्या हमें साकार पूजा के समीप लाती है, जिसका सम्बन्ध विभिन्न देवों से है। इस में अप्रकटित रूपों का कोई स्थान नहीं है। ब्रह्मा की साकार मूर्ति इस पुराण में कई स्थलों पर प्रदर्शित है। इसका संक्षिप्त वर्णन निम्नलिखित है।

## २. विष्णुधर्मोत्तरपुराण के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा :

**विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के ४४ वें अध्याय में दैवी त्रिक का संक्षिप्त विवरण है। इस

---

१. वि० ध० पु०, ४३.३१-३२

२. तु० डॉ० प्रिय बाला शाह, **विष्णुधर्मोत्तरपुराण**, तृतीय खण्ड, भाग १ (ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा), पृ० १३८

अध्याय के ५-६ श्लोकों में ब्रह्मा की प्रतिमा का संक्षिप्त विवरण है । इस पुराण के अनुसार ब्रह्मा को चतुर्मुख होना चाहिए, जिससे 'सौम्य' तथा 'तोष्य' रूप प्रतिध्वनित हों । वे कमलासन पर आसीन होने चाहिए तथा उन्हें कृष्ण मृग-चर्म धारण करना चाहिए ।[1] उन्हें रूखे केश (Matted hairs) तथा चार भुजाओं वाला होना चाहिए । वे रथारूढ़ होने चाहिए, जिसे सात हंस खींच रहे हों । उनकी प्रत्येक दाहिना भजा वाम हाथ के तल पर न्यस्त होनी चाहिए । उनका दाहिना हाथ रुद्राक्ष की माला धारण करता है तथा बायाँ कमण्डलु को धारण करता है । वह सम्पूर्ण आभूषणों से सुशोभित हैं ।[2] अपने इस रूप से ब्रह्मा सभी शुभ लक्षणों से सुशोभित हैं तथा उनकी मुद्रा नितान्त निश्चल है । उनका शारीरिक तेज कमल-पङ्खुरी के अग्र भाग के समान होना चाहिए तथा आखें ध्यान में बन्द होनी चाहिए ।[3] ब्रह्मा की निर्मिति प्रतिमा, चित्रलेखन या माडेलिङ्ग में होना चाहिए तथा रङ्ग कमल-पङ्खुरी के अग्र भाग के समान होना चाहिए ।[4]

पुनः **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** का ४६ वाँ अध्याय प्रतिमालक्षण से सम्बद्ध है, परन्तु ब्रह्मा की प्रतिमा की विशेषताओं का वर्णन वहाँ नहीं है । इस अध्याय में १६ श्लोक हैं तथा प्रारम्भ के ६ श्लोकों को छोड़कर शेष ब्रह्मा के हेतुओं (emblems) को विश्लेषित करते हैं । हम इन हेतुओं का आगे वर्णन करेंगे । अध्याय ६३ ब्रह्मा की प्रतिमा-सम्बन्धी विशेषताओं का वर्णन करता है । इस अध्याय में तीन श्लोक हैं तथा इनमें से केवल आरम्भ का श्लोक कुछ नवीन विशेषताओं का वर्णन करता है । यहाँ ब्रह्मा कमल-पङ्खुरी पर आसीन बताये गये हैं, जबकि अध्याय ४४ में कमलासन मुद्रा में आसीन प्रदर्शित हैं । इस अध्याय की दूसरी विशेषता यह है कि सावित्री उनकी वाम क्रोड को सुशोभित कर रही है ।[5]

### ३. मत्स्यपुराण में ब्रह्मा :

**मत्स्यपुराण** में देव-विशेष की प्रतिमा-निर्माण के सामान्य नियम प्रतिपादित हैं, अत एव उन सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन अपेक्षित प्रतीत होता है । इस के अनुसार एक मूर्ति-निर्माण के लिए कुछ माप निश्चित हैं तथा वे त्रसरेणु, बालाग्र, लिख्या, यूका, यव तथा अङ्गुलि हैं । इसे हम निम्नलिखित रूप से समझ सकते हैं :

८ त्रसरेणु = १ बालाग्र

८ बालाग्र = १ लिख्या

---

१. वि० ध० पु० ४४.५

२. वही, ४४.६-७

३. वही, ४४.८

४. वही, ४४.९

५. वही, ६३.१

८ लिख्या = १ यूका
८ यूका = १ यव
८ यव = १ अङ्गुलि
१२ अङ्गुलि = १ मुख्य

इस मुख्य माप में एक प्रतिमा के कई भाग सन्तुलित रूप में होने चाहिएँ।[१] एक प्रतिमा स्वर्ण, रजत, ताँम्बा, रत्न, अमूल्य पत्थर, पत्थर, लकड़ी, लोहा, पीतल, ताँम्बे के मिश्रण, चन्दन-काष्ठ तथा अन्य अनेक लड़कियों से बनाइ जा सकती है।[२] पुनः प्रतिमाएँ अनेक भाँति की होती हैं। उदाहरण के रूप में वे घर के प्रयोग के निमित्त हो सकती हैं। एक मन्दिर तथा राजसी महल के निमित्त हो सकती हैं। घर के निमित्त की मूर्ति एक क्युबिट से बड़ी होनी चाहिए। क्युबिट एक नाप है, जो प्रस्तृत अङ्गुठा तथा छोटी अङ्गुलि के माप का होता है, परन्तु एक मन्दिर या राजसी महल की प्रतिमा १६ क्युबिट से अधिक लम्बी नहीं हो चाहिए।[३]

एक प्रतिमा का मुख नौ भागों में विभक्त होना चाहिए। गर्दन चार अङ्गुलि की होनी चाहिए। इसके नीचे स्तन होना चाहिए। स्तन के नीचे नाभि सुन्दरता के साथ एक अङ्गुलि के प्रमाण से निर्मित होनी चाहिए।[४] नाभि के नीचे इन्द्रिय एक अङ्गुलि की होती है। दोनों जंघाएँ दो अङ्गुलियों की, घुटने चार अङ्गुलियों के, टखने दो अङ्गुलियों के, पैर चार अङ्गुलियों के तथा शिर चार अङ्गुलियों के होने चाहिएँ।[५]

एक प्रतिमा के विभिन्न अङ्गों की चौड़ाई अथवा मोटाई का क्रम भिन्न-भिन्न होता है। माथा चार अङ्गुलियों का, जवड़ा दो अङ्गुलियों का तथा ओष्ठ एक अङ्गुलि का होना चाहिए।[६] कनपटियों की मोटाई ८ अङ्गुलियों की होनी चाहिए तथा नेत्र-भौंहें आधी अङ्गुलि की मोटाई की होनी चाहिए।[७] ऊँचाई, चौड़ाई, रङ्ग आदि जिन का सम्बन्ध एक प्रतिमा से है, उनका विस्तृत वर्णन आगे इस पुराण में है।[८]

दैवी प्रतिमा के निर्माण के विषय में **मत्स्यपुराण** में निम्नलिखित वर्णन है।

---

१. म० पु० २५८.१७-१९
२. वही, २५८.२०-२१
३. वही, २५८.२३
४. वही, २५८,२६-२७
५. वही, २५८.२८.-२९
६. वही, २५८.३१
७. वही, २५८.३२
८. वही, २५८.३३-५४

यदि दैवी प्रतिमा स्त्री की है, तब यह २२ अङ्गुलि की होनी चाहिए। दोनों स्तनों के बीच की दूरी १२ अङ्गुलि की होनी चाहिए। नाभि के आस-पास का क्षेत्र ४२ अङ्गुलियों का होना चाहिए। यदि प्रतिमा पुरुष की है, तब कर्धनी (girdle) ५५ अङ्गुलियों की होना चाहिए। कंधे ६ अङ्गुलियों का होना चाहिए तथा गर्दन की मोटाई ८ अङ्गुलियों की होनी चाहिए। लम्बाई ८ कला तथा भुजाओं की लम्बाई ४२ अङ्गुलि होना चाहिए। हाथ के करतल की लम्बाई ५ अङ्गुलियों की होनी चाहिए। बीच की अङ्गुलि ५ अङ्गुलियों की होनी चाहिए। कुछ अन्य भागों का वर्णन इस प्रकार है :

"The nameles finger is to be 1/7th less; the little finger 1/5th less than the middle finger and the ring finger, one-fifth less than the middle finger. The thumb should be four fingers. The joints of the middle finger should be of two fingers long. The joints of the thumb should be like those of the ring finger and the upper joint should be made greater by two **Yavas**. Nails should be made in half of the top joint, which should be smooth, reddish and glossy. The back of the fingers should be somewhat round and the corners should be raised by the one Kala. The hairs of the head should hang on the shoulders by ten fingers. The limbs of the goddesses should be made slender and shorter. The breasts, the thighs, the hips and lions should be made bulky. The abdomen should be in a space of fourteen fingers. All the images should be aborned well with various kinds of nice ornaments in their arms, etc. Their necks should be somewhat longer and curved with excellent curbs of hair. The neck, nose and and forehead are to be three fingers and a half; and the lower lip is to be of half a finger. The eyes should be more than 1/4th of the lips. The ridge of the neck should be a little more than 1/2 a finger in height."[१]

देवों, दानवों तथा किन्नरों की ऊँचाई ६ ताल होनी चाहिए। अङ्गूठा तथा अङ्गुलि के मध्य की दूरी को ताल कहा जाता है।[२] देवों की मूर्तियों की निर्माण-विधि से सम्बद्ध अङ्गुलियों का सम्बन्ध ताल-मान से है।

---

१. तु० वही, २५८.५७-७०

२. वही, २५८.१६

## ४. मत्स्यपुराण के अनुसार ब्रह्मा की मूर्ति :

**मत्स्यपुराण** में ब्रह्मा की मूर्ति के निर्माण का वर्णन संक्षिप्त है। अध्याय २६० के प्रारम्भ में वर्णित है कि ब्रह्मा की प्रतिमा चार शीर्षों वाली होनी चाहिए। उस के एक हाथ में कमण्डलु होना चाहिए। वे हंसारूढ होने चाहिएँ अथवा कमला-पर आसीन होना चाहिएँ।[1] ब्रह्मा की मूर्ति का वर्ण लाल होना चाहिए, जैसा कि कमलशय्या होती है। उस की प्रतिमा चार हाथों वाली तथा पाँच मुखों वाली होनी चाहिए। उस के बाएँ हाथ में कमडण्लु तथा दक्षिण हाथ में sacrificial ladle होनी चाहिए। एक दण्ड तथा स्रुव वाम तथा दक्षिण हाथों में होने चाहिएँ। देवों-ऋषियों तथा गन्धर्वों को उस के चारो ओर इस प्रकार प्रदर्शित करना चाहिए, जिस से वे स्तुति के मुद्रा में हों। ब्रह्मा को इस रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिस से ज्ञात हो कि वे सृष्टि-निर्माण के कार्य में व्यस्त हैं। उन्हें मृग-चर्ग तथा यज्ञोपवीत से संयुक्त प्रदर्शित करना चाहिए।[2] ब्रह्मा की मूर्ति के दक्षिण ओर इस प्रकार का स्थान हो, जिसे होम से सम्बद्ध प्रदर्शित करना चाहिए और जहाँ चारो वेदों को रखा जा सकता है। ब्रह्मा की मूर्ति के वाम भाग में सावित्री की प्रतिमा तथा दक्षिण में सरस्वती की प्रतिमा होनी चाहिए। ऋषियों को देव के सम्मुख प्रदर्शित करना चाहिए।[3]

## ५. ब्रह्मा के हेतुओं के तात्पर्यार्थ :

यहाँ उन वस्तुओं के तात्पर्य को दिखाना अभिप्रेत है, जिन का सम्बन्ध ब्रह्मा से उनकी प्रतिमा के रूप में है। कुछ वस्तुओं का सम्बन्ध ब्रह्मा से है तथा वे बाह्य हैं। इस के अतिरिक्त ब्रह्मा के शरीर के कुछ अवयव स्वतः अपूर्व हैं, अत एव वे व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। वस्तुतः शब्दों में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वे तत्तत् वस्तुओं तथा भागों का विवेचन कर सकें। वे असमर्थ हैं, अत एव उन के अनेक प्रतीकार्थ हैं। इस परिप्रेक्ष में यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम उन के अर्थों को जानें तथा प्रतीकों के उद्देश्य को भी समझ लें। प्रतीकों का बहुधा प्रयोग हमारे धर्म, कला, साहित्य इत्यादि में होता है।

## ६. प्रतीकों के प्रयोग तथा उद्देश्य :

संसार के सभी धर्मों में सबसे अधिक प्रतीक का प्रयोग हिन्दू-धर्म में होता है। वस्तुतः प्रतीक अत्यन्त सरल तथा निश्चित साधन है, जिस के द्वारा अज्ञेय तथा अविश्लेष्य को जाना जा सकता है। भक्त अथवा मनुष्य अपूर्ण है, अत एव वह

---

१. **वही**, २६०.४०
२. **वही**, २६०.४१-४३
३. **वही**, २६०.४४-४५

अपने सीमित साधनों के द्वारा पूर्ण को प्राप्त नहीं कर सकता। शब्द चरम सत्ता का वर्णन करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। मनुष्य के सभी शारीरिक ज्ञान के साधन पूर्ण के अन्वेषण में शरीर-त्याग नहीं कर सकते। यही कारण है कि प्रतीक का प्रयोग होता है। एक प्रतीक विश्वास की विभिन्न दशाओं को सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत करता है। प्रतीक साङ्केतिक होते हैं तथा वे भक्त के गहन विचार को प्रस्तुत करते हैं, जिनका सम्बन्ध पूर्ण से होता है :

"Of all religions of the East, the home of type and imagery, Hinduism makes the most use of symbols. It has formally declared the ultimate truth to be unknowable and indefinable. In all its scheme of practice and teaching, it seeks to make definite approach to reality by suggestive type or symbol-an approach that can never find its goal, but can only draw nearer and nearer...........The symbol is the necessary and helpful intermediary between the inadequate capacity of the mind of the would be worshipper and the incommunicable nature and the fullness of the unknown whom he adores. A complete and adequate description therefore of the Hindu use of type and symbol would require an almost complete exposition of Hindu belief in its many varieties and ramifications."[१]

प्रतीक के द्विविध प्रयोजन हैं। सर्वप्रथम हम जानते हैं कि मानव-मन सीमित ज्ञान स्रोतों से युक्त है। इसका परिणाम यह होता है कि उन के द्वारा अपने स्तुति के योग्य सभी वस्तुओं के समग्र ज्ञान को ग्रहण नहीं किया जा सकता। धर्म में रहस्य वस्तुओं को घेरे रहती है तथा इस रहस्य का उद्‌घाटन प्रतीकों द्वारा होता है। प्रतीक हमारी सहायता करते हैं, जिस से हम देवों के रूपों को समझ सकते हैं।[२]

---

१. द्र० जेम्स हेस्टिङ्गस, **इन्साक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स,** भाग १२ (न्यूयार्क, १९५८), पृ० १४१

२. वही, पृ० १४२

"The use and purpose of the symbol is twofold : (1) To set forth in visible or audible likeness what cannot be really or fully expressed to the physical eye or ear, or even clearly conceived by the limited faculties of the human mind. All language is in the last resort symbolic, and religious language in an especial degree, for it endeavours to present a mystery, a reality too deep for

## ७. विभिन्न वस्तुओं तथा ब्रह्मा के शारीरिक अवयवों के प्रतीक :

**विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के अनुसार ब्रह्मा को चतुर्मुख कहा गया है। ब्रह्मा के चारो मुख चार वेदों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन का पूर्वी मुख **ऋग्वेद** का, दक्षिण **यजुर्वेद** का, पश्चिम **सामवेद** का तथा उत्तरी **अथर्ववेद** का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्मा की चारो भुजाएँ दिशाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। कमण्डलु के जल सम्पूर्ण संसार का प्रतिनिधित्व करते हैं। जल संसार के निर्माण में प्रथम आवश्यक तत्त्व हैं। ब्रह्मा संसार के निर्माता हैं, अत एव वे ब्रह्मा के निर्माण-प्रक्रिया में उन के सहायक हैं। ब्रह्मा के हाथ में धारित अक्षमाला समय का प्रतिनिधित्व करती है।[१] ब्रह्मा के जीवन में समय का बड़ा महत्त्व है। इस के अतिरिक्त इस का महत्त्व संसार के संसरण में है, क्योंकि संसार में युग आते तथा जाते रहते हैं। उन के अनुसार ही सृष्टि होती है तथा उस का विस्तार होता है। प्रत्येक युग का एक निश्चित समय होता है। ब्रह्मा मृग-चर्म को धारण करते हैं। यह यज्ञ का प्रतिनिधित्व करता है, जो शुक्ल तथा अशुक्ल रूप से द्विविध है।[२]

हम ने पहले बताया है कि ब्रह्मा उस रथ पर चढ़ते हैं, जिसे सात हंस खींचते हैं। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के अनुसार सात हंस सात लोकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सात लोक भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् हैं।[३] मूर्ति-विद्या के क्षेत्र में दिखाया गया है कि ब्रह्मा एक हंस अथवा कमल पर बैठते हैं। ब्रह्मा का सम्बन्ध कमल से दो रूपों में है। कतिपय पुराणों में वर्णित है कि ब्रह्मा का जन्म उस कमल से हुआ, जो विष्णु की नाभि से निकला हुआ है। दूसरे रूप में हम देखते हैं कि ब्रह्मा कमल पर आसीन हैं। सामान्यतः हम ब्रह्मा को कमल पर ही आसीन देखते हैं, क्योंकि उन की प्रतिमाओं में कमल का बहुल प्रयोग है। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के अनुसार यहाँ प्रतीक का अन्वेषण किया जा रहा है। विष्णु की नाभि से निकला हुआ कमल पृथिवी (मही) का प्रतिनिधित्व करता है, जो दृढता का प्रतीक है। ब्रह्मा अपने कमलासन की मुद्रा में इस प्रकार के कमल पर विराजते हैं तथा ध्यान लगाते हैं। वह ध्यान में अपने सर्वोच्च दशा (**परम धर्म**) को सोचते हैं, जो रूप-हीन है। जब

---

words... The image or symbol serves the purpose also of providing in material and suitable form a convenient object of reverence to meet the religious need of those whose minds, through darkness and ignorance, are unable to grasp the conception of an unseen formless deity."

१. **वि० ध० पु०** ४४.८-१०

२. **वही,** ४४.११-१२

३. **वही,** ४६.१२-१३

वह ध्यान में हैं, तब उन की आँखें बन्द हैं, उस समय वह सम्पूर्ण संसार को देखते हैं।[1] ब्रह्मा रूखे बालों को धारण करते हैं तथा आभूषणों से सुसज्जित हैं। उन के केश जड़ी-बूटियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो संसार को जीवन देती हैं, अत एव उन से संसार धारित है। आभूषण ज्ञान के विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि इन के द्वारा संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलता है।[2]

## ८. सामान्य प्रतीक :

ब्रह्मा के सम्बन्ध से ऊपर विशेष-विशेष प्रतीकों की ओर सङ्केत किया गया है। कुछ अन्य प्रतीकों की ओर यहाँ सङ्केत किया जा रहा है। ब्रह्मा चार मुख, स्वर्णिम मुकुट, श्वच्छ दाढ़ी, मनुष्याकृति, चार भुजाएँ, धूमिल स्वच्छ वस्त्र, अक्षमाला, कमण्डलु, पुस्तक, वाहन-रूप में हंस, कमल इत्यादि को धारण करते हैं। इन के विभिन्न प्रतीक हैं। इन में से कुछ प्रतीकों की ओर नीचे सङ्केत है। हम ने पहले बताया है कि ब्रह्मा के चार मुख चारो वेदों के प्रतीक हैं, जिन से शाश्वत् ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ ज्ञान का सम्बन्ध धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से है, जो जीवन के चरम उद्देश्य हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के चार मुख चार युगों तथा चार वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं।[3] मूर्ति-विद्या के क्षेत्र में मुख का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार रङ्गों का अपना स्थान है। कुछ का मत है कि स्वर्णिम रङ्ग रजोगुण का प्रतिनिधित्व करता है, जो गुण संसार के निर्माण में क्रियाशील सिद्धान्त है।[4] यह प्रारम्भिक पद्धति का भी प्रतिनिधित्व करता है, जिस से संसार का विकास हुआ है। ब्रह्मा संसार के स्वामी हैं। पुराणों में उन्हें प्रजापति कहा गया है, जिस से ज्ञात होता है कि प्रजापति प्राणियों का स्वामी हैं। प्रजापति के रूप में ब्रह्मा एक राजा के समान हैं। जिस प्रकार एक राजा अपने सिर पर मुकुट धारण करता है, वैसे ही ब्रह्मा एक प्रजापति (राजा) के रूप में अपने सिर पर मुकुट धारण करते हैं। यह मुकुट उन की प्रभुसत्ता का प्रतीक है।[5] यह नितान्त सत्य भी है, क्योंकि ब्रह्म आदि सत्ता है तथा ब्रह्मा उस का व्यक्त रूप हैं। इस प्रकार ब्रह्म तथा ब्रह्मा में प्रगाढ सम्बन्ध है। इस से ब्रह्मा की सार्वभौतिकता अथवा प्रभुता प्रकट होती है। स्वच्छ दाढ़ी प्राचीनता का प्रतिनिधित्व करती है।[6]

ब्रह्मा जीवित तथा निर्जीव प्राणियों का संसार रचते हैं। उन में मानव-सृष्टि

---

१. वही, ४६.१४-१६

२. वही, ४६.१७-१८

३. 'इन्दर' इन्दरजीत, **साइंस ऑफ सिम्बल्स** (दिल्ली, १९७९), पृ० २३-२४

४. वही, पृ० २६

५. वही, पृ० २६

६. वही, पृ० २६

सर्वोत्कृष्ट है। मानव-रूप में ब्रह्मा मानव-सृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** के अनुसार ब्रह्मा की चारो भुजाएँ चारो दिशाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकार ब्रह्मा सर्वशक्तिमान् (omnipotent) तथा सर्वव्यापक (omnipresent) हैं। वस्तुतः हाथ तथा पैर काम करने के साधन हैं। ब्रह्मा के साथ भी यही बात है। सम्मुख की उस की दो भुजाएँ इस व्यक्त संसार में उस की क्रिया का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा विपरीत दो भुजाएँ अव्यक्त संसार में उस के कार्य का प्रतिनिधित्व करती हैं।[1] सामान्यतः ब्रह्मा स्वच्छ वस्त्र को धारण करते हैं। इसी कारण उन्हें शुक्लाम्बरधर कहा गया है। इस अवस्था में उन का स्वच्छ वस्त्र शुद्धता का प्रतिनिधित्व करता है। मूर्ति-विद्या के क्षेत्र में उन की अधिकांश मूर्तियाँ स्वच्छ वस्त्र को धारण करती हुई प्रदर्शित हैं। इस के विपरीत **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में दिखाया गया है कि ब्रह्मा कृष्ण मृग के चर्म को वस्त्र के रूप में धारण करते हैं। इस प्रकार उन का वस्त्र काला तथा स्वच्छ दो प्रकार का हो जाता है। कृष्ण तथा स्वच्छ यह भावना व्यक्त करते हैं कि ब्रह्मा की सृष्टि द्विविध है, क्योंकि विरोधी गुणों का आपस में सम्मिश्रण है, जो अच्छाई तथा बुराई, रात तथा दिन इत्यादि का प्रतिनिधित्व करते हैं।[2]

ब्रह्मा जल से पूरित कमण्डलु को धारण करते हैं। यहाँ जल अमृत का प्रतीक है, जो संसार के निर्माण में शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। एक अन्य मत के अनुसार जल अमृतत्व, मोक्ष तथा चरम आनन्द का प्रतिनिधित्व करता है:

"This also represents the "Amritatva" (immortality) of the Upanishads, the "Nirvana" (salvation) of the Buddha and the "Anandatatva" (supreme joy) of the Vedantins."[3]

ब्रह्मा अपने ऊपरी हाथ में एक पुस्तक धारण करते हैं, जो ज्ञान का प्रतिनिधित्व करती है।[4] मानव-जीवन में ज्ञान की परमावश्यकता है, जिस से जीवन सुखी तथा फलप्रद हो सके। ब्रह्मा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। यह तीनों गुणों में अनुशासित कार्य का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि ये सत्व, रजस् तथा तमस् तीनों गुण मिलकर किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। तीनों गुणों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और यदि विरोध हो जाये, तो कोई काम नहीं हो सकता। वे कुछ प्रमुख सिद्धान्तों से शासित हो मिलकर काम करते हैं।[5]

---

१. वही, पृ० २४
२. वही, पृ० २६
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० २५
५. वही, पृ० २७

पुराणों में ब्रह्मा को कमल पर बैठे हुए अथवा हंस पर चढ़े हुए प्रदर्शित किया गया है। कमल लाल तथा स्वच्छ है। लाल रङ्ग रजोगुण का प्रतीक है। सफेद रङ्ग शुद्धता का प्रतीक है। **ललित सहस्रनाम** के अनुसार कमल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

"Nature is its leaves, change is its pollen and consciousness is its placenta. Lotus is naturally stable and full of conscious beauty."[1]

### ९. ब्रह्मा का वाहन :

पौराणिक काल में प्रायः सभी देवता वाहनों से संयुक्त हो गये हैं।[2] वाहन √वह् से निर्मित है, जिसका अर्थ ले जाना है। वाहन का प्रयोग किसी वस्तु या व्यक्ति को ले जाने में प्रयुक्त होता है। जब एक वाहन का सम्बन्ध किसी देवता-विशेष से दिखाया या दर्शाया जाता है, तब इससे एक सामान्य व्यक्ति यह समझता है कि वह देवता अपने उस वाहन से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है। किसी देवता-विशेष के विषय में यह बात लागू हो सकती है, परन्तु सभी देवों के विषय में यह बात चरितार्थ नहीं होती है। उदाहरण के रूप में हम भैंसे को ले सकते हैं। यह यम का वाहन है। इसका रूप अत्यन्त भयावह होता है। कुछ सीमा तक इस बात में सत्यता है कि यम इस भैंसे पर चढ़कर अपने मृत्यु-सम्बन्धी कार्यों को करता है, परन्पु सभी वाहनों को अपने स्वामियों के वाहन-कार्य में प्रयोगात्मक रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि वाहन इतना छोटा होता है कि अपने स्वामी के भार को सहन नहीं कर सकता। कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि देवता जब इतने शक्तिशाली हैं कि जो चाहे, स्वतः कर सकते हैं, तब वे क्यों सवारियों का प्रयोग करते हैं? वे तो अपनी इच्छानुसार जब चाहें, तब एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकते हैं। इन प्रश्नों तथा समस्याओं का समाधान केवल एक ही है कि ये वाहन देवों से प्रतीकात्मक रूप से सम्बद्ध हैं। वे किसी भाव अथवा विचार को अभिव्यक्त करने के लिए किसी देवता से सम्बद्ध हैं। ऐसे भाव एवं विचार अत्यन्त गूढ होते हैं। यहाँ ब्रह्मा के विषय में प्रकृत सन्दर्भ में विचार किया गया है।

### १०. ब्रह्मा का वाहन हंस :

प्रायः सभी पुराणों में हंस को ब्रह्मा का वाहन बताया गया है। इसकी पुष्टि के लिए यहाँ दो-एक उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। **मत्स्यपुराण** का कथन है कि ब्रह्मा

---

१. **वही**, पृ० २७

२. देवों के कुछ वाहनों के लिए द्र० मन्मथ दत्त शास्त्री, **अग्निपुराणम्**, भाग १ (वाराणसी, १९६७), १८७-१८८

की मूर्ति कमलासन होनी चाहिए या यह हंसाधिरूढा होनी चाहिए :

**ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्त्तव्यः स चतुर्मुखः ।**
**हंसारूढः क्वचित् कार्यः क्वचिच्च कमलासनः ॥**[1]

इस के विपरीत **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में प्रदर्शित है कि ब्रह्मा रथ पर आरूढ हैं तथा सात हंस उसे खींच रहे हैं :

**जगद्धरं चतुर्मुखं सप्तहंसे रथे स्थितम् ।**[2]

## ११. हंस का तात्पर्य :

**कथोपनिषद्** में आकाश में रहता हुआ हंस का तादात्म्य सूर्य से किया गया है ।[3] यह अन्ततोगत्वा आत्मा का प्रतीक है, जो पार्थिव वस्तुओं से नितान्त भिन्न तथा सर्वोपरि है ।[4] सामान्यतः विश्वसित है कि आत्मा ऊपर से आया तथा पृथिवी और वत्रस्थ वस्तुओं में व्याप्त हो गया । भुवन सात हैं । आत्मा सातों भुवनों में सात हंस है । इस प्रकार प्रत्येक हंस प्रत्येक लोक का प्रतीक है । स्वतः पुराण का कथन है :

**ये लोकास्ते रथे हंसा ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।**[5]

हंस आत्मा का प्रतीक है । यदि सात हंस सात लोकों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा सातों लाकों में व्याप्त है । पुराणों में हंस को सरस्वती से भी सम्बद्ध किया गया है तथा वह आत्मा तथा जीवात्मा का प्रतीक है । ब्रह्मा से सम्बद्ध हंस भी इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करता है ।[6]

---

१. **म० पु०** २६०.४०
२. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण**, ४४.६
३. **कठोपनिषद्**, २.२.२
४. **वही**, २.२.२
५. **विष्णुधर्मोत्तरपुराण**, ६६.१३
६. तु० डॉ० मुहम्मद इसराइल खाँ, 'सरस्वती का वाहन' **संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कतिपय झाँकियाँ** (गाज़ियाबाद, १९८५), पृ० ७२-७६

—१५—

## आधुनिक संस्कृत की प्रासंगिकता और प्रसार के व्यावहारिक उपाय

हमें यह सुविज्ञात है कि हम आज वैज्ञानिक युग में रह रहे हैं। हम यह भी जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज युग की लहर से अछूता अथवा विना प्रभावित हुए नहीं रह सकता। वर्तमान प्रसङ्ग को देखते हुए आज हमें साइंस तथा प्रादेशिक भाषाओं को छोड़ कर अन्य भाषाओं की उपयोगिता अधिक दिखाई देती है, क्योंकि वे हमारी जीविका की साधन हैं। आज का समाज उन्हें अपनाने में समुत्सुक है। एक समय था, जब कि संस्कृत हमारी राष्ट्र-भाषा थी। सामान्य जन संस्कृत बोलते थे, परन्तु शनैः शनैः संस्कृत राष्ट्र-भाषा के पद से हट गई तथा अन्य अनेक प्रादेशिक भाषाओं ने उस का स्थान ले लिया। अपने खोये हुए गौरव को प्राप्त करने का आज हम प्रयत्न कर रहे हैं। यह प्रयत्न अनेक स्तरों पर हो रहा है। प्रश्न यह है कि हम आज संस्कृत को क्यों अपनाएँ। आदर्श यदि सच्चा आदर्श है, तो हमें अवश्य आकर्षित करेगा। यदि हम आदर्श को ढूँढने लगें और हृदय से ढूँढें, तो संस्कृत में सच्चा एवं अमूल्य आदर्श-रूपी हीरा दृष्टिगोचर होगा। आप को विदित है कि हमारी संस्कृत, जो पहले भारत की सीमाओं तक बढ़ी थी, आज वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त कर चुकी है। रूस, जापान, चीन, थाईलैंड, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि-आदि देशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन, अध्यापन तथा उसमें शोध हो रहे हैं, अत एव राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह विचारणीय है कि संस्कृत में क्या तत्त्व निहित हैं, जो हमें आकर्षित कर रहे हैं। कुछ विचारणीय बातें निम्नलिखित हैं :

(१) संस्कृत हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की स्रोत है। यह हमें चलने-फिरने का सच्चा रास्ता दिखाती है और यह मार्ग आस्तिकता से प्रकाशित है। आज के वैज्ञानिक युग में हम ईश्वर को कोई स्थान नहीं देते हैं। वैज्ञानिक प्रगति-मार्ग पर बढ़ते हुए भी हम अपने को प्रत्येक क्षण अशांत, असंतुष्ट एवं विह्वल पाते हैं। यदि इन्हीं प्रगतियों का नाम उन्नति है, तो ऐसी उन्नति को शतशः प्रणाम है। सत्य तो यह है कि हम ने संस्कृत को छोड़ कर अपने धर्म का परित्याग कर दिया है, अत एव अशांत एवं पीडित क्यों न हों। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा भी है :

**श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।**
**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ गी० ३.३५**

हम दृढता के साथ यह कह सकते हैं कि आज के युग में गीता संसार के

प्रत्येक मानव का हृदय-हार बनने की क्षमता रखती है और यह एक **यूनिवर्सल बुक** है ।

(२) हमें यह भी ज्ञात है कि अभी हाल में ही भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ है । भाषा-विज्ञान आधुनिक युग की देन है । जब जर्मनी वालों ने संस्कृत का अध्ययन किया, तब उन्हों ने ऐसे तत्त्वों को ढूंढ़ निकाला, जो आस-पास की एक परिवार की भाषाओं में किञ्चित परिवर्तन के साथ पाई जाती थीं । उन की संस्कृत की (Etymological Study ने Philology) को जन्म दिया । यह विज्ञान संसार के प्रायः सभी देशों में पढ़ाया जा रहा है और उस में संस्कृतज्ञों की महती आवश्यका है, यद्यपि अनेक स्थानों पर इस शास्त्र के अध्यापक एवं अध्येता संस्कृतानभिज्ञ हैं ।

(३) आज संस्कृत का अध्ययन धार्मिकता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । धन का बाहुल्य यदि अपेक्षित है, तो उस के साथ-साथ हमारा धार्मिक पक्ष भी सबल होना चाहिए । यह निस्संदेह रूप से सत्य है कि आज अमेरिका के पास धन की अतिशयता है और वे उस से एक प्रकार से ग्रसित एवं पीडित हैं, अत एव वे अब इधर कुछ सालों से आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर हो रहे है । उन्हों ने हमारे धर्म-शास्त्रों के अध्ययन की ओर विशेष रुचि दिखाई है । आशा की जाती है कि यदि हम ने उन का सही-सही मार्ग-दर्शन किया, तो यह प्रकाश अन्यत्र फैलेगा और हम उन की सहायतार्थ आमंत्रित होंगे ।

(४) आधुनिक युग में संस्कृत में निहित विज्ञानों में आयुर्वेद विज्ञान अत्यन्त गुणकारी है । दन्त-कथा है कि हकीम लुकमान से जड़ी एवं बूटियाँ अपने गुणों को तार स्वर से सुनाया करती थीं और वे रोग-निवारण में अमोघ थीं । क्या आज आप यह सोच रहे हैं कि वे जडी-बूटियाँ इस धरा से उठ गईं ? कदापि नहीं । वे वर्तमान हैं, परन्तु हम पहचान नहीं रहे हैं । **अथर्ववेद** तथा **भेषजसंहिताओं** में अनेक प्रकार की जड़ी-बूटियों के वर्णन उपलब्ध होते हैं । वहाँ पर उन के रूप, रङ्ग, गुणादि का प्रभूत वर्णन मिलता है । आज कई विश्वविद्यालयों में तथा स्वतंत्र रूप से तद्विषयक प्रयोग-शालाएँ प्रस्थापित हैं । स्वयं केन्द्रिय स्वास्थ्य एवं कल्याण विभाग की ओर से भेषजसंहिता-विषयक प्रयोग-शालाएँ खोली गई हैं, जिन में डॉक्टरों द्वारा Researches हो रहीं हैं, परन्तु खेद है कि वे डॉक्टर संस्कृत से परिचित नहीं हैं तथा **भेषज-संहिताओं** का ज्ञान उन्हें अन्य भाषा (English) आदि के माध्यम से हो पाता है ।

(५) औषध-विज्ञान के क्षेत्र में आधुनिक युग में संस्कृत हमारी अन्य अनेक प्रकार से सहायता कर सकती है । हम जानते हैं कि वैज्ञानिक आविष्कारों से हम अनेक रोगों के शिकार होते जा रहे हैं । कभी-कभी तो ऐसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी सही डाइग्नोसिस नहीं हो पाती । संस्कृत में अनेक योग की प्रक्रियाएँ बताई गई हैं और कहा यह जाता है कि यदि मनुष्य उन्हें नियमतः करता रहे, तो कोई रोग

पास फटक नहीं सकता। हमारे देश में अनेक योगाश्रम हैं। आशा की जाती है कि यदि इन आश्रमों को सच्चे एवं सही गुरु उपलब्ध हुए, तो बहुत सीमा तक सच्ची सहायता योगों से मिलती रहेगी।

(६) संस्कृत आधुनिक युग में एकता उत्पन्न करने में हमारी अत्यधिक सहायता कर सकती है तथा '**वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना साकार हो सकती है। वेद के सिद्धान्त तथा तत्त्व ऐसे हैं, जो सार्वभौमिक हैं। वे सारी मानवता के लिए है— The Vedas are for the humanity. आज के कलह के युग में वेदों तथा अन्य संस्कृत के ग्रन्थों से धार्मिक अनेक बुनियादी एकता सम्बन्धी तत्त्वों का अध्ययन तथा अध्यापन अपेक्षित है। उन के द्वारा बढ़ती हुई साम्प्रदायिक तनाओं को दूर किया जा सकता है। संस्कृत के साथ यह बात अरबिक से भी ढूँढी जा सकती है तथा लाभान्वित हुआ जा सकता है। इस दिशा में कुछ भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त गुणकारी है।

इस भाषा के प्रचार एवं प्रसार के कतिपय व्यावहारिक उपाय निम्नलिखित हैं :

१. संस्कृत के प्रसार में जन-रुचि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तभी सम्भव है, जब कि सामान्य जनों को अपने अतीत से परिचय हो। उन्हें इस बात का परिचय आधुनिक साधनों से कराया जा सकता है। इस दिशा में गाँव तथा शहरों में संस्कृत-पुस्तकालयों की योजनाएँ अत्यन्त लाभप्रद हो सकती हैं।

२. संस्कृत के प्रसार की दिशा में कुछ साल पहले से रेडियो द्वारा संस्कृत में समाचार प्रसारित किया जा रहा है, परन्तु यदि T. V. के द्वारा सरल संस्कृत में **वेद, पुराण, गीता** आदि के संदर्भ प्रस्तुत किए जायें, तब अधिक लाभान्वित हुआ जा सकता है।

३. आज भारत में प्रादेशिक भाषाओं के विकास की योजनाएँ चल रही हैं। निस्संदेहरूप से संस्कृत के विषय में भी अनेक योजनाएँ हैं, परन्तु उन योजनाओं में एक-आध कमी दृष्टिगोचर हो रही है। आज राष्ट्रीय एवं राजकीय स्तर पर कोई संस्कृत का समाचार-पत्र नहीं निकल रहा है। जनरुचि जागृत करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। इस समाचार-पत्र में सारी बातें संस्कृत से सम्बद्ध हों, परन्तु कभी-कभी संस्कृत की उन्नति की दिशा में होने वाले प्रयत्नों, व्ययों तथा अन्य योजनाओं का उल्लेख भी किया जा सकता है। संस्कृत के समाचारपत्र-प्रकाशन का काम राष्ट्रीय एवं राजकीय स्तर पर प्रकाशित समाचार-पत्र के प्रकाशकों को दिया जा सकता है। यह काम सरकारी आर्थिक सहायता से सरल बनाया जा सकता है।

४. संस्कृत का प्रसार—और वह भी आधुनिक प्रसार बहुत कुछ उस के सरलीकरण में निर्भर है।

५. नौकरी की प्राप्ति में यदि संस्कृत सहायक सिद्ध हुई, तो इसका प्रसार अवश्य बढ़ेगा, इस में तनिक भी संदेह नहीं है। अभी तक संस्कृत अध्यापन की दिशा में हमारी जीविका का साधन रही है। अन्य क्षेत्रों में इस का प्रचार अथवा प्रचलन कम ही रहा है, परन्तु हर्ष का विषय है कि अब संस्कृत के माध्यम से हम यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर सकते हैं। आशा की जाती है कि इस से संस्कृत का गौरव बढ़ेगा और वह उन्नति के पथ पर बढ़ेगी।

६. कतिपय अभिनीय नाट्यों के माध्यम से संस्कृत का प्रचार सरल हो सकता है। जब B. O. R. I. Poona का जुबिली महोत्सव हुआ था, उस समय एक सामाजिक नाट्य अत्यन्त सरल संस्कृत में अभिनीत हुआ था। विद्वानों ने उस की महती प्रशंसा की। इस प्रकार की संस्कृत से विद्वानों तथा सामान्य जनों का लाभ हो सकता है।

# नाट्य तत्व-सम्बन्धी ऋग्वैदिक सम्वाद-पाठ्य

## ऋग्वेद १.१६५

कया शुभा सवयसः सनीलाः समान्या मरुतः सं मिमिक्षुः ।
कया मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्मं वृषणो वसूया ।। १ ।।
कस्य ब्रह्माणि जुजुषुर्युवानः को अध्वरे मरुत आ ववर्त ।
श्येनाँ इव ध्रजतो अन्तरिक्षे केन महा मनसा रीरमाम ।। २ ।।
कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं त इत्था ।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत् ते अस्मे ।। ३ ।।
ब्रह्माणि मे मतयः शं सुतासः शुष्म इयर्ति प्रभृतो मे अद्रिः ।
आ शासते प्रति हर्यन्त्युक्थे मा हरी वहतस्ता नो अच्छ ।। ४ ।।
अतो वयमन्तमेभिर्युजानाः स्वक्षत्रेभिस्तन्वः शुम्भमानाः ।
महोभिरेताँ उप युज्महे न्विन्द्र स्वधामनु हि नो बभूथ ।। ५ ।।
क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद् यन्मामेकं समधत्ताहिहत्ये ।
अहं ह्युग्रस्तविषस्तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः ।। ६ ।।
भूरि चकर्थ युज्येभिरस्मे समानेभिर्वृषभ पौंस्येभिः ।
भूरीणि हि कृणवामा शविष्ठेन्द्र क्रत्वा मरुतो यद् वशाम ।। ७ ।।
वधीं वृत्रं मरुत इन्द्रियेण स्वेन भामेन तविषो बभूवान् ।
अहमेता मनवे विश्वश्चन्द्राः सुगा अपश्चकर वज्रबाहुः ।। ८ ।।
अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ।। ९ ।।
एकस्य चिन्मे विभ्वस्त्वोजो या नु दधृष्वान् कृणवै मनीषा ।
अहं ह्युग्रो मरुतो विदानो यानि च्यवमिन्द्र इदीश एषाम् ।। १० ।।
अमन्दन्मा मरुतः स्तोमो अत्र यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र ।
इन्द्राय वृष्णे सुमखाय मह्यं सख्ये सखायस्तन्वे तनूभिः ।। ११ ।।
एवेदेते प्रति मा रोचमाना अनेद्यः श्रव एषो दधानाः ।
संचक्ष्या मरुतश्चन्द्रवर्णा अच्छान्त मे छदयाथा च नूनम् ।। १२ ।।
को न्वत्र मरुतो मामहे वः प्र यातन सखीँरच्छा सखायः ।
मन्मानि चित्रा अपिवातयन्त एषां भूत नवेदा म ऋतानाम् ।। १३ ।।

आ यद् दुवस्याद् दुवसे न कारुरस्माञ्चक्रे मान्यस्य मेधा ।
ओ षु वर्त्त मरुतो विप्रमच्छे मा ब्रह्माणि जरिता वो अर्चत् ।। १४ ।।

एष वः स्तोमो मरुत इयं गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः ।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ।। १५ ।।

## ऋग्वेद १.१७०

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम् ।
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ।। १ ।।

किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः । २ ।।

किं नो भ्रातरगस्त्य सखा सन्नति मन्यसे ।
विद्मा हि ते यथा मनोऽस्मभ्यमिन्न दित्ससि ।। ३ ।।

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुरः ।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै ।। ४ ।।

त्वमीशिषे वसुपते वसूनां त्वं मित्राणां मित्रपते धेष्ठः ।
इन्द्र त्वं मरुद्भिः सं वदस्वाध प्राशान ऋतुथा हवींषि ।। ५ ।।

## ऋग्वेद १.१७१

प्रति व एना नमसाहमेमि सूक्तेन भिक्षे सुमतिं तुराणाम् ।
रराणता मरुतो वेद्याभिर्नि हेलो धत्त वि मुचध्वमश्वान् ।। १ ।।

एष वः स्तोमो मरुतो नमस्वान् हृदा तष्टो मनसा धायि देवाः ।
उपेमा यात मनसा जुषाणा यूयं हि ष्ठा नमस इद् वृधासः ।। २ ।।

स्तुतासो नो मरुतो मृलयन्तूत स्तुतो मघवा शंभविष्ठः ।
ऊर्ध्वा नः सन्तु कोम्या वनान्यहानि विश्वा मरुतो जिगीषा ।। ३ ।।

अमादहं तविषादीषमाण इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः ।
युष्मभ्यं हव्या निशितान्यासन् तान्यारे चकृमा मृलता नः ।। ४ ।।

येन मानासश्चितयन्त उस्रा व्युष्टिषु शवसा शश्वतीनाम् ।
स नो मरुद्भिर्वृषभ श्रवो धा उग्र उग्रेभिः स्थविरः सहोदाः ।। ५ ।।

त्वं पाहीन्द्र सहीयसो नॄन् भवा मरुद्भिरवयातहेलाः ।
सुप्रकेतेभिः सासहिर्दधानो विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ।। ६ ।।

## ऋग्वेद १.१७९

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ।। १ ।।

ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन् त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि ।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापुः समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्युः ॥ २ ॥
न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत स्पृधो अभ्यश्नवाव ।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत् सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ॥ ३ ॥
नदस्य मा रुधतः काम आगन्नित आजातो अमुतः कुतश्चित् ।
लोपामुद्रा वृषणं नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम् ॥ ४ ॥
इमं नु सोममन्तितो हृत्सु पीतमुप ब्रुवे ।
यत् सीमागश्चकृमा तत् सु मृलतु पुलुकामो हि मर्त्यः ॥ ५ ॥
अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥ ६ ॥

## ऋग्वेद ३.३२

इन्द्र सोमं सोमपते पिबेमं माध्यंदिनं सवनं चारु यत् ते ।
प्रप्रुथ्या शिप्रे मघवन्नृजीषिन् विमुच्या हरी इह मादयस्व ॥ १ ॥
गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय ।
ब्रह्मकृता मारुतेना गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व ॥ २ ॥
ये ते शुष्मं ये तविषीमवर्धन्नर्चन्त इन्द्र मरुतस्त ओजः ।
माध्यंदिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र ॥ ३ ॥
त इन्वस्य मधुमद् विविप्र इन्द्रस्य शर्धो मरुतो य आसन् ।
येभिर्वृत्रस्येषितो विवेदामर्मणो मन्यमानस्य मर्म ॥ ४ ॥
मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शश्वते वीर्याय ।
स आ ववृत्स्व हर्यश्व यज्ञैः सरण्युभिरपो अर्णा सिसर्षि ॥ ५ ॥
त्वमपो यद्ध वृत्रं जघन्वाँ अत्याँ इव प्रासृजः सर्तवाजौ ।
शयानमिन्द्र चरता वधेन वव्रिवांसं परि देवीरदेवम् ॥ ६ ॥
यजाम इन्नमसा वृद्धमिन्द्रं बृहन्तमृष्वमजरं युवानम् ।
यस्य प्रिये ममतुर्यज्ञियस्य न रोदसी महिमानं ममाते ॥ ७ ॥
इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे ।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः ॥ ८ ॥
अद्रोघ सत्यं तव तन्महित्वं सद्यो सज्जातो अपिबो ह सोमम् ।
न द्याव इन्द्र तवसस्त ओजो नाहा न मासाः शरदो वरन्त ॥ ९ ॥
त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन् ।
यद्ध द्यावापृथिवी आविवेशीरथाभवः पूर्व्यः कारुधायाः ॥ १० ॥

अहन्नहिं परिशयानमर्णं ओजायमानं तुविजात तव्यान् ।
न ते महित्वमनु भूदध द्यौर्यदन्यया स्फिग्या३ क्षामवस्थाः ॥ ११ ॥

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनो भूदुत प्रियः सुतसोमो मियेधः ।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य आवत् ॥ १२ ॥

यज्ञेनेन्द्रमवसा चक्रे अर्वागैनं सुम्नाय नव्यसे ववृत्याम् ।
यः स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः ॥ १३ ॥

विवेष यन्मा धिषणा जजान स्तवै पुरा पार्यादिन्द्रमह्नः ।
अंहसो यत्र पीपरद् यथा नो नावेव यान्तमुभये हवन्ते ॥ १४ ॥

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै ।
समु प्रिया आववृत्रन् मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम् ॥ १५ ॥

न त्वा गभीरः पुरुहूत सिन्धुर्नाद्रयः परि षन्तो वरन्त ।
इत्था सखिभ्य इषितो यदिन्द्राऽऽदृळहं चिदरुजो गव्यमूर्वम् ॥ १६ ॥

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥ १७ ॥

ऋग्वेद ८.१००

अयं त एमि तन्वा पुरस्ताद्विश्वे देवा अभि मा यन्ति पश्चात् ।
यदा मह्यं दीधरो भागमिन्द्राऽऽदिन्मया कृणवो वीर्याणि ॥ १ ॥

दधामि ते मधुनो भक्षमग्रे हितस्ते भागः सुतो अस्तु सोमः ।
असश्च त्वं दक्षिणतः सखा मेऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि ॥ २ ॥

प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति ।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥ ३ ॥

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ ४ ॥

आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यं एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे ।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ॥ ५ ॥

विश्वेत् ता ते सवनेषु प्रवाच्या या चकर्थ मघवन्निन्द्र सुन्वते ।
पारावतं यत् पुरुसंभृतं वस्वपावृणोः शरभाय ऋषिबन्धवे ॥ ६ ॥

प्र नूनं धावता पृथङ् नेह यो वो अवावरीत् ।
नि षीं वृत्रस्य मर्मणि वज्रमिन्द्रो अपीपतत् ॥ ७ ॥

मनोजवा अयमान आयसीमतरत् पुरम् ।
दिवं सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिण आभरत् ॥ ८ ॥

समुद्रे अन्तः शयत उद्ना वज्रो अभीवृतः ।
भरन्त्यस्मै संयतः पुरःप्रस्रवणा बलिम् ॥ ९ ॥

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ १० ॥
देवीं वाचमजयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ११ ॥
सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे ।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवं विसृष्टाः ॥ १२ ॥

ऋग्वेद १०.१०

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् ।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥
न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति ।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन् ॥ २ ॥
उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्व१मा विविश्याः ॥ ३ ॥
न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम ।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामितन्नौ ॥ ४ ॥
गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ॥ ५ ॥
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥ ६ ॥
यमस्य मा यम्यं१ काम आगन् त्समाने योनौ सहशेय्याय ।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥
न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पशः इह ये चरन्ति ।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

ऋग्वेद १०.९५

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु ।
न नौ मंत्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन् ॥ १ ॥
किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव ।
पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ॥ २ ॥
इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः ।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः ॥ ३ ॥
सा वसु दधती श्वसुराय वय उषो यदि वष्टचन्तिगृहात् ।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन् दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन ॥ ४ ॥
त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि ।
पुरूरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीर तन्व१स्तदासीः ॥ ५ ॥

× × ×

## पुस्तक के विषय में सम्मति

"प्रकृत **संस्कृत-शोध-लेखमाला** में १५ शोध-लेख हैं। परिशिष्ट में कुछ ऋग्वैदिक पाठ्य हैं, जो नाट्य के सम्वाद-तत्त्व से सम्बद्ध हैं। लेखों के नाम हैं: (१) वेद-भाष्यपद्धति, (२) कारक-विचार, (३) श्री गणेश जी: एक विहगावलोकन, (४) नैतिक शिक्षा की आधार-शिला संस्कृत, (५) काव्यस्वरूप-निरूपण, (६) भारतीया वैदिकी पूजा-पद्धति, (७) पौराणिक-संस्कृति, (८) मेघदूत का शिल्प और संवेदन, (९) यजुर्वेद में सरस्वती का स्वरूप, (१०) कमल-पुष्प—कालिदास के परिप्रेक्ष में, (११) नाट्य के वैदिक स्रोत, (१२) अथर्ववेद में प्रकृति तथा मानव, (१३) भारतीय विवाह-पद्धतियाँ, (१४) विष्णुधर्मोतर तथा मत्स्य पुराणों के अनुसार ब्रह्मा की प्रतिमा और (१५) आधुनिक संस्कृत की प्रासंगिकता तथा प्रसार के व्यावहारिक उपाय। ये शोध-लेख शोध में निरत अध्यापकों तथा शोधार्थियों के लिए अत्यन्त लाभदायक हैं। इन शोध लेखों का सम्बन्ध विभिन्न विषयों से है, अत एव एक ही पुस्तक में विभिन्न रुचि वालों को लाभदायक सामग्री मिलेगी।"

—लेखक

**लेखक की कृतियाँ :**

1. Sarasvatī In Sanskrit Literature
2. Brahmā In the Purāṇas
3. Some Graphical Pusāṇic Texts on Brahmā
4. संस्कृत-नाट्य-सिद्धांत के अनालोचित पक्ष
5. संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कतिपय झाँकियाँ
6. संस्कृत-शोध-लेखमाला

*Editted-books as the Asstt. Editor*

7. Meerut University Sanskrit Research Journal (MUSTA) Vol. I, Jan. 1976
8. ,, ,, ,, Vol. I, July, 1977
9. ,, ,, ,, Vol. I, Jan.-June 1978
10. ,, ,, ,, Vol. II, July-Dec., 1978
11. ,, ,, ,, Vol. I, Jan.-June, 1979
12. ,, ,, ,, Vol. II, July-Dec., 1979
13. ,, ,, ,, Vols. I & II, Jan.-Dec., 1980
14. ,, ,, ,, Vols. I & II, Jan.-Dec., 1981
15. ,, ,, ,, Vols. I & II, Jan.-Dec., 1982

Forhtcoming books of Dr. M. I. Khan

1. Sources of Sanskrit Drama
2. Som Gems of Sanskrit Lore
3. The Naiṣadhīyacaritam, Canto I

*Crescent Publishing House*

F/D—56 New Kavinagar, Ghaziabad, U. P. (INDIA)